॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

१६२

# श्रीमद्भगवद्गीता

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-परमहंसपरिव्राजकाचार्य-

श्रीमधुसूदनसरस्वतीकृत-

'गूढार्थदीपिका' संस्कृतटीकायुत-हिन्दीव्याख्याविभूषिता


हिन्दीव्याख्याकार :—

स्वामी श्रीसनातनदेवजी महाराज

टिप्पणी एवं भूमिका लेखक :—

स्वामी श्रीयोगीन्द्रानन्दजी शास्त्री

मीमांसातीर्थ, न्यायाचार्य

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि० सं० २०१८
मूल्य : १५-००

© The Chowkhamba Sanskrit Series Office,
P. O. Box 8, Varanasi.
1962
Phone 3145

ॐ

सब कुछ जिनका कृपा-प्रसाद है

और

जिनकी प्रेरणासे यह ग्रन्थ लिखा गया

उन

*श्रीगुरुदेवकी पतितपावनी पुण्यस्मृतिमें*

**सादर समर्पित**

चरण-चञ्चरीक

**सनातनदेव**

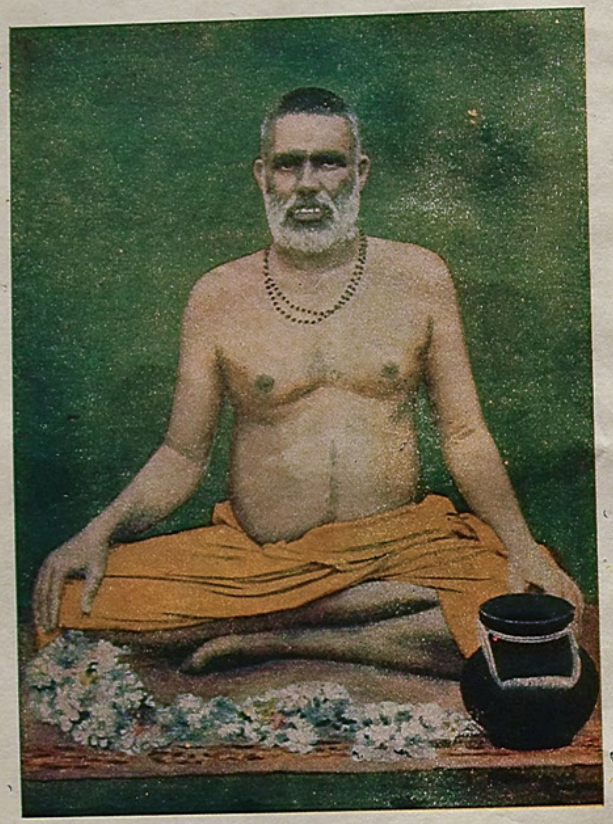

ब्रह्मलीन श्री उड़िया बाबा जी महाराज

# निवेदन

श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय वाङ्मयका एक देदीप्यमान रत्न है। हिन्दू धर्मग्रन्थोंमें ही नहीं, विश्वके सम्पूर्ण आध्यात्मिक साहित्यमें इसका स्थान बहुत ऊँचा है। यह ऐसा सर्वमान्य ग्रन्थ है जिसका स्वदेश और स्वधर्ममें ही नहीं, विदेश और परधर्मोंमें भी बहुत अधिक मान है। संसारमें गीताके जितने अनुवाद और संस्करण मिलते हैं उतने बाइबिलको छोड़कर और किसी ग्रन्थके नहीं मिलते। भारतीय मनीषियोंने भी टीका, अनुवाद और टिप्पणियोंके द्वारा जितना विस्तार और विवेचन इस ग्रन्थका किया है उतना और किसीका नहीं किया। आचार्योंने अपने मतवादोंका आधार उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता—इन तीनों प्रस्थानोंको ही माना है। इनमें भी सर्वसाधारणके लिये जितनी सुलभ और सुबोध गीता है उतने अन्य दो प्रस्थान नहीं हैं। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि गीता भारतीय दर्शनशास्त्रकी सर्वोत्कृष्ट परिणति है।

गीताके वक्ता हैं भगवान् श्रीकृष्ण और श्रोता हैं वीराग्रगण्य पाण्डुपुत्र अर्जुन, जो आस्तिकोंकी दृष्टिसे स्वयं श्रीनारायण और नरके अवतार हैं। श्रीनारायण और नर दोनों ही धर्मके द्वारा मूर्त्तिके उदरसे आविर्भूत हुए थे और दोनों ही भगवदवतार माने जाते हैं। इनमें नारायण ईश्वरके प्रतीक हैं और नर जीवके। ईश्वर और जीव तो उपनिषद्की भाषामें भी समान वृक्षपर साथ-साथ रहनेवाले दो पक्षी हैं। इस प्रकार दोनों ही सखा हैं। वस्तुतः इन दोनोंका सख्य या साथ कभी नहीं छूटता। किन्तु कर्मफलका लोभी जीव भ्रमवश अपनेको अपने नित्य सखा ईश्वरसे बिछुड़ा समझने लगता है और मोहमें पड़कर शोकाकुल हो जाता है। इस शोक और मोहसे उसका उद्धार करनेमें ईश्वरसे बढ़कर और कौन समर्थ हो सकता है? ठीक ऐसी ही परिस्थिति अर्जुनकी भी है। श्रीकृष्णका नित्य सखा होनेपर भी वह बन्धु-बान्धवोंके मोहवश स्वधर्मको भूल शोकाकुल हो जाता है। उस समय श्रीकृष्ण अपनी अमृतमयी वाणीसे उसे सचेत करते हैं और वह मोहमुक्त होकर पुनः एक सच्चे सखाकी भाँति श्रीकृष्णकी आज्ञाका अनुवर्तन करनेको तैयार हो जाता है। इस प्रकार अर्जुनमें जीवकी बद्ध और मुक्त दोनों अवस्थाओंका दिग्दर्शन होता है और प्रभु किस प्रकार जीवका प्रत्येक अवस्थामें त्राण करते हैं—इसके प्रतीक हैं श्रीकृष्ण। श्रीकृष्णकी वह अमृतमयी वाणी—जीवकी सुप्त चेतनाको जाग्रत् करनेवाली उनकी वह मधुर मुरलीध्वनि ही है गीता। प्रभुके पादपद्मोंसे निःसृत श्रीभागीरथी त्रिलोकीको पवित्र करती है, फिर साक्षात् उनके वदनारविन्दसे आविर्भूत श्रीगीताजीकी महिमा तो कह ही कौन सकता है?

ऊपर हम कह चुके हैं कि श्रीगीताजीपर अनेक विद्वानोंने टीका और व्याख्याएँ लिखी हैं। उनमें भी जितनी टीकाएँ अद्वैत सम्प्रदायके आचार्यों द्वारा लिखी गयी हैं उतनी और किसी अन्य सम्प्रदाय द्वारा नहीं लिखी गयीं। उन टीकाओंमें श्रीमधुसूदन स्वामीकी गूढार्थदीपिकाका स्थान यदि सर्वोच्च कहा जाय तो भी अत्युक्ति न होगी। इसमें सन्देह नहीं कि गीताके सभी प्रकरणोंको अद्वैतनिष्ठाके रंगसे रँगनेमें तो श्रीशंकरानन्दजी ही सबसे बढ़े-चढ़े हैं, परन्तु उसके विभिन्न प्रसंगोंको यथास्थान सुरक्षित रखते हुए उनकी प्रसंगानुकूल व्याख्या करनेमें श्रीसरस्वतीजीकी वाणी ही सफल हुई है। आपने यथास्थान ज्ञान, योग, भक्ति, न्याय और मीमांसा सभी दार्शनिक दृष्टियोंका पूर्णतया आदर किया है। उससे गीताकी सर्वमान्यता तो सुरक्षित रहती ही है, आपकी बहुमुखी प्रतिभाका भी परिचय प्राप्त होता है।

यह सब होते हुए भी श्रीमधुसूदन स्वामीका दार्शनिक दृष्टिकोण अद्वैतसिद्धान्तके ही अनुरूप है। इसे व्यक्त करनेमें उन्होंने कहीं-कहीं साकारवादकी दार्शनिक दृष्टिसे कुछ भर्त्सना भी की है; तथापि भक्तिपक्षका समर्थन और प्रतिपादन करनेमें उन्होंने स्वयं भगवान् शंकराचार्यसे भी अपना मतभेद प्रकट करनेमें संकोच नहीं किया। आचार्यचरणोंका उन्होंने सर्वत्र आदर किया है और भाष्य की व्याख्या करके उसे सर्व-साधारणके लिये सुलभ करना ही अपनी टीकाका उद्देश्य बताया है। जहाँ-जहाँ अपना मतभेद प्रकट किया है वहाँ भी आचार्यचरणोंके प्रति अत्यन्त विनय और शालीनता व्यक्त की है। इससे जहाँ एक ओर आचार्यचरणोंके प्रति उनकी अटूट श्रद्धा प्रकट होती है वहाँ दूसरी ओर उनके विचारस्वातन्त्र्य और सत्यनिष्ठाका भी आभास मिलता है। एक सच्चे संतमें सचमुच इन दोनों गुणोंकी आवश्यकता है। सच्चे आचार्य और गुरु ऐसे अनुयायी और शिष्यको पाकर प्रसन्न ही होते हैं। परवर्ती कई विद्वानोंने सरस्वतीजीके इस विचारस्वातन्त्र्यकी भर्त्सना और समालोचना भी की है। परन्तु ऐसा करके क्या उन्होंने उन्हींके स्वभावका अनुसरण नहीं किया। हाँ, इतना अन्तर अवश्य है कि इनकी यह प्रवृत्ति एक व्यक्तिविशेषका अनुसरण करनेके कारण है जब कि सरस्वतीजीने अपने विवेक या अन्तरात्माका आदर करते हुए वैसा किया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीमधुसूदनस्वामीकी यह व्याख्या अत्यन्त बहुमुखी और पाण्डित्यपूर्ण है। मेरे-जैसे सामान्य विद्याबुद्धिसम्पन्न व्यक्तिका इसके अनुवादमें प्रवृत्त होना दुःसाहसमात्र था। परन्तु सबके अन्तःकरणोंको प्रेरित करनेवाले प्रभु तो परम स्वतन्त्र हैं। वे कब किसको क्यों किस कर्ममें प्रवृत्त करते हैं—इसका कोई नियम तो है नहीं। आजसे प्रायः २४ वर्ष पूर्व उन्हींकी प्रेरणासे यह अनुवाद लिखा गया था। इसके कोई-कोई स्थल तो आज भी मेरे लिये दुरूह ही हैं।



परन्तु कुछ सम्मान्य महानुभावोंकी सहायतासे उनका भी अनुवाद हो ही गया है। उन महानुभावोंमें विरक्तशिरोमणि स्वामी श्रीब्रह्मप्रकाशजी, महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीस्वतन्त्रानन्दजी, मीमांसातीर्थ न्यायाचार्य स्वामी श्रीयोगीन्द्रानन्दजी और पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्रीके नाम विशेषरूपसे उल्लेखनीय हैं। इस सम्पूर्ण ग्रन्थके अनुवाद में मुझे शास्त्री श्रीहरिलाल कालिदासजीके गुजराती अनुवादसे सहायता मिली है। अतः मैं इन सभी महानुभावोंका अत्यन्त अनुगृहीत हूँ। परम आदरणीय स्वामी श्रीयोगीन्द्रानन्दजीने इस ग्रन्थके संशोधनमें बहुत अधिक सहयोग दिया है। उन्होंने इसकी भूमिका लिखी है और सम्पूर्ण ग्रन्थपर टिप्पणी लिखना भी आरम्भ किया था, परन्तु कार्यकी अधिकताके कारण पुस्तककी छपाईके साथ वे इसे न लिख सके। इसलिये इस संस्करणमें वह अपूर्ण ही रह गयी। उनकी इन कृपाओंका मैं अत्यन्त आभारी हूँ और उनसे प्रार्थना करता हूँ कि अगले संस्करणतक वे अपनी टिप्पणी पूरी लिख दें, जिससे जनताके लिये यह ग्रन्थ अधिकाधिक उपयोगी हो जाय।

यह सब होते हुए भी हमें खेद है कि पुस्तकमें छपाईकी बहुत अधिक भूलें रह गयी हैं। हम कृपालु पाठकोंसे इसके लिये क्षमा चाहते हैं और उनसे प्रार्थना करते हैं कि वे पुस्तकके अन्तमें लगे शुद्धिपत्रके अनुसार अपनी पुस्तक शुद्ध करके पढ़ें, नहीं तो कई जगह बहुत भ्रम रह जानेकी सम्भावना है।

विनीत

मार्गशीर्ष कृ० १ सं० २०१८

**सनातनदेव**

# श्रीमधुसूदन सरस्वती

## संक्षिप्त परिचय

शंकरस्वरूप भगवान् श्रीशंकराचार्यके पीछे अद्वैत सम्प्रदायमें जो सर्वमान्य ग्रन्थकार हुए हैं उनमें श्रीमधुसूदन सरस्वतीका नाम बड़े ही आदरसे लिया जाता है। वे उच्चतम कोटिके विद्वान् तो हैं ही, परन्तु उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे जैसे पारदर्शी तत्त्वज्ञ हैं वैसे ही भगवत्प्राण भावुक भक्त भी हैं। उनकी इस गूढार्थदीपिका टीकामें जगह-जगह उनका वह भगवत्प्रेम छलक पड़ा है। ग्रन्थका उपसंहार करते हुए वे लिखते हैं—

*वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।*
*पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥*

इसी प्रकार द्वितीय षट्‌कको टीका आरम्भ करते हुए वे कहते हैं—

*यद्भक्ति न विना मुक्तिर्यः सेव्यः सर्वयोगिनाम्।*
*तं वन्दे परमानन्दघनं श्रीनन्दनन्दनम्॥*

( सप्तम अध्यायका प्रारम्भ )

तथा अन्तिम षट्‌कके आरम्भमें लिखते हैं—

*ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं*
*ज्योतिः किञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।*
*अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं*
*कालिन्दीपुलिनोदरे किमपि यत्नीलं महो धावति॥*

( त्रयोदश अध्यायका प्रारम्भ )

*आविर्भाव*—आचार्य श्रीमधुसूदन सरस्वतीका आविर्भाव संवत् १५६० वि० के आस-पास माना जाता है। मूलतः इनके पूर्वज कन्नौजके रहनेवाले थे। जब संवत् १२५१ (सन् ११९४ई०) में शहाबुद्दीन गौरीने जयचन्दको परास्त कर कान्यकुब्जमें अपनी विजय-वैजयन्ती स्थापित की तो यवनोंके आतङ्कसे पीड़ित हो अनेक परिवार बंगाल और बिहारकी ओर भाग गये। उन्हींमें हमारे चरितनायकके पूर्वज श्रीराममिश्र अग्निहोत्री भी थे। उन्हींकी वंशपरम्परामें आपके पिता श्रीप्रमोदन पुरन्दराचार्य हुए। उनके पाँच पुत्र हुए—श्रीनाथ चूडामणि, यादवानन्द न्यायाचार्य, कमलनयन, वागीश गोस्वामी और एक अन्य जिनका नाम प्रसिद्ध नहीं है। इनमें तृतीय पुत्र श्रीकमलनयन ही संन्यास लेनेपर श्रीमधुसूदन सरस्वती हुए। आपकी जन्मभूमि जिला फरीदपुरके कोटालपाड़ा परगनामें उनसिया नामका गाँव थी।

*कालनिर्णय*—उदासीन महाविद्यालय काशीसे आचार्य मधुसूदन सरस्वतीके भक्तिरसायन ग्रन्थकी रसधारा नामवाली एक टीका प्रकाशित हुई है। उसमें आचार्यचरणका परिचय लिखते हुए उक्त विद्यालयके प्रिंसिपल मीमांसातीर्थ, न्यायाचार्य स्वामी श्रीयोगीन्द्रानन्दजीने कई युक्तियोंसे आपका जीवनकाल सं० १५६० से १६६७ तक १०७ वर्षका

निश्चय किया है। उनका वह कथन कलकत्ताके पण्डितप्रवर श्रीयोगेन्द्रनाथ तर्क-सांख्य-वेदान्ततीर्थके निर्णयके आधारपर है। उन्होंने इसमें जो युक्तियाँ दी हैं उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(क) कहते हैं, गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी श्रीमधुसूदन सरस्वतीके समवयस्क और स्नेहियोंमें थे। जब संस्कृतके विद्वान् गोस्वामीजीके रामचरितमानसपर भाषाकी रचना होनेके कारण कटाक्ष करने लगे तो उन्होंने एक दोहा लिखकर सरस्वतीजीके पास भेजा—

*'हर-हरि-यश सुर-नर-गिरा, बरनहि सन्त सुजान।*
*हांडी हाटक चारु रुचि, रांधे स्वाद समान॥'*

अर्थात् भात चाहे मिट्टीकी हाँडीमें राँधो चाहे सुवर्णके पात्रमें उसका एक-सा ही स्वाद होता है उसी प्रकार भगवान् शंकर या विष्णुकी लीलाएँ सुजान सन्तजन समान-रूपसे देववाणी या नरवाणी (हिन्दी)में वर्णन करते हैं। तब श्रीगोस्वामीजीके ग्रन्थकी प्रशंसा करते हुए आपने लिखा था—

*'आनन्दकानने ह्यस्मिन् जंगमस्तुलसीतरुः।*
*कवितामञ्जरी यस्य रामभ्रमरभूषिता॥'*

अर्थात् इस आनन्दवन (काशी) में एक चलता-फिरता तुलसीका पौधा है, जिसकी कवितारूपी मञ्जरी रामरूप भ्रमरसे सुशोभित है।

श्रीगोस्वामीजीका जीवनकाल सं० १५९० से १६८० तक माना जाता है; अतः आपका जन्मकाल भी १५९० वि० के लगभग ही होना चाहिये।

(ख) दूसरी किंवदन्ती है कि अकबरने अपने अर्थमन्त्री टोडरमलके आग्रहसे एक पण्डित-सभा बुलाई थी, जिससे यह निर्णय कराना था कि टोडरमलकी जाति 'खत्री' किस वर्णमें है। उस विद्वन्मण्डलीमें श्रीमधुसूदन सरस्वती भी पधारे थे और आपने टोडरमलको क्षत्रियवर्णके अन्तर्गत बताया था। तबसे टोडरमल आपका बहुत आदर करने लगे। एक बार मुल्लाओंने संन्यासियोंको बहुत पीडित करना आरम्भ किया। तब संन्यासियोंने आपके द्वारा टोडरमलको सूचना भेजी। टोडरमलने सम्राट् अकबरके द्वारा शास्त्रचर्चाके बहाने श्रीमधुसूदन सरस्वतीको दरबारमें बुलवाया। वहाँ देश-देशान्तरके अनेक विद्वान् एकत्रित हुए। सभी आपके पाण्डित्यसे बहुत प्रभावित हुए और निम्नाङ्कित श्लोक द्वारा आपका अभिनन्दन किया—

*'मधुसूदनसरस्वत्याः पारं वेत्ति सरस्वती।*
*पारं वेत्ति सरस्वत्या मधुसूदनसरस्वती॥'*

अर्थात् मधुसूदन सरस्वतीका पार तो सरस्वती देवी ही जानती हैं और सरस्वती-का पार भी केवल श्रीमधुसूदन सरस्वती ही जानते हैं।

इससे सिद्ध होता है कि आप अकबरके समसामयिक थे। अकबरका राज्यकाल सं० १६१३ से १६६२ तक है। यदि उसने अपने शासनकालके दसवें वर्षमें पण्डित-सभा बुलायी हो और उस समय आपकी आयु ३२-३३ वर्षके लगभग रही हो तो भी आपका जन्मकाल सं० १५९० के आस-पास ही पड़ता है।



हिन्दी-विश्वकोषमें यही घटना दरभंगानरेश द्वारा नियोजित पण्डितसभाकी लिखी है।

(ग) कहते हैं, एक बार आप नवद्वीप गये थे। उस समय वहाँ के प्रमुख पण्डित श्रीमथुरानाथ तर्कवागीश और गदाधर भट्टाचार्य भी आपके पाण्डित्यको देखकर घबड़ा गये थे। इस विषयमें यह श्लोक प्रसिद्ध है—

*'नवद्वीपे समायाते मधुसूदनवाक्पतौ।*
*चकम्पे तर्कवागीशः कातरोऽभूद् गदाधरः॥'*

गदाधर पण्डित उस समय बालक ही थे और सरस्वतीजी थे अतिवृद्ध। गदाधर-जीका जीवनकाल सन् १६०४ से १७०८ ई० तक माना जाता है। यह घटना सन् १६२४ अर्थात् सं० १६८१ की मानी जाती है। अतः इससे भी उनका जन्मकाल वही निश्चित होता है।

(घ) मधुसूदन सरस्वतीजीने मध्व-सम्प्रदायके विद्वान् श्रीव्यासतीर्थके ग्रन्थ न्यायामृतका खण्डन किया। इससे व्यासतीर्थजीको बहुत दुःख हुआ। उन्होंने अपने शिष्य रामाचार्यको बुलाकर कहा कि मैं बहुत वृद्ध हो गया हूँ, किन्तु जबतक मधुसूदन-सरस्वतीके ग्रन्थ अद्वैतसिद्धिका खण्डन नहीं होगा तबतक मुझे शान्ति नहीं मिलेगी। तब रामाचार्यने श्रीसरस्वतीजीसे ही अद्वैतसिद्धि पढ़कर न्यायामृतकी टीका 'तरङ्गिणी' लिखी और उसमें अद्वैतसिद्धि द्वारा किये हुए न्यायामृतके खण्डनका खण्डन किया। जब विद्या समाप्त करके आप मधुसूदन सरस्वतीसे विदा होने लगे तब यही ग्रन्थ आपने गुरुदक्षिणा-रूपसे उन्हें भेंट किया। उसमें अपने ग्रन्थका पाण्डित्यपूर्ण खण्डन देखकर सरस्वतीजी बोले—'मुझे गर्व है कि मेरे शिष्यने ही मेरा खण्डन किया।' व्यासतीर्थका समय सन् १४४६ से १५३९ ई० तक है। अतः इससे भी सरस्वतीजीका आविर्भावकाल सन् १५३३ या सं० १५९० ही सिद्ध होता है।

(ङ) श्रीशंकरमिश्र ने खण्डनखण्डखाद्यका खण्डन करते हुए 'भेदरत्न' नामका ग्रन्थ लिखा। उसका खण्डन श्रीसरस्वतीजीने 'अद्वैतरत्नरक्षण' नामक ग्रन्थसे किया है। शंकरमिश्रका समय १५ वीं शताब्दी माना जाता है। उनके निकट-परवर्ती होनेके कारण भी आपका जीवनकाल १५३३ ई० से १६४० ई० तक मानना उचित ही है।

*शिक्षा और वैराग्य*—श्रीकमलनयनजीके पिता पं० प्रमोदन-पुरन्दराचार्य तत्कालीन प्रकाण्ड पण्डितोंमें गिने जाते थे। अतः आपने उन्हींसे व्याकरण, काव्य एवं कोष आदि विषयोंका अध्ययन किया। कहते हैं, आठ वर्षकी आयुमें ही आप सुन्दर कविताएँ रचने लगे थे। उन दिनों चन्द्रद्वीप (वर्तमान वाकला) प्रान्तके राजा थे श्रीकन्दर्पनारायण सिंह। उन्हें प्रमोदन-पुरन्दराचार्य प्रतिवर्ष नौकाओंमें भरकर आम पहुँचाया करते थे। उन्हें बाढ़ आदिके कारण कई बार वहाँ जानेमें कष्ट होता था। अतः वे स्वयं वहाँ जाने-आनेकी झंझटसे छुटकारा पाना चाहते थे। राजाके सामने उन्होंने यह प्रस्ताव रखा, परन्तु उसने यह कहकर कि इसी बहाने सालमें एक बार आपके दर्शन हो जाते हैं उनकी बात न मानी। फिर उन्होंने बालक कमलनयनकी कविता सुननेके लिये कहा तो उसमें भी टाल-मटोल कर दी। एक दिन कविता सुनी भी तो अन्यमनस्क होकर। इसका कमल-नयनके चित्तपर यह प्रभाव पड़ा कि उन्होंने मानवकी प्रसन्नताके लिये कभी कोई काव्य-

रचना न करनेका निश्चय कर लिया। वे पारिवारिक जीवनसे भी उपरत हो गये और शेष जीवन भगवदाराधनमें ही व्यतीत करनेके संकल्पसे दस वर्षकी अल्प आयुमें ही नवद्वीपकी ओर चल दिये। मार्गमें मधुमती नदी पड़ी। जिस स्थानपर ये पहुँचे वहाँ नदी पार करनेका कोई साधन नहीं था। बस, कोई और उपाय न देखकर ये वहीं आसन लगाकर बैठ गये और श्रीजाह्नवी देवीकी आराधना करने लगे। कुछ दिन व्यतीत होनेपर देवीकी इनपर कृपा हुई। उन्होंने प्रकट होकर इन्हें आशीर्वाद दिया। थोड़ी ही देरमें नौकासहित एक मल्लाह आया और इन्हें नदीके उस पार ले गया। इस प्रकार ये श्रीचैतन्य महाप्रभुके दर्शनोंकी लालसा लिये नवद्वीप धाम पहुँचे। परन्तु इस समय महाप्रभुजी नवद्वीपमें नहीं थे। अतः उस ओरसे निराश होकर आप शास्त्राध्ययनमें प्रवृत्त हो गये। उन दिनों नवद्वीपके प्रधान नैयायिक थे श्रीमथुरानाथ तर्कवागीश। आप उनके पास गये और वे इनकी अपूर्व प्रतिभासे प्रभावित एवं प्रसन्न होकर इन्हें पढ़ाने लगे। उनके पास रहकर आपने उदयनाचार्यकी लक्षणावली और वल्लभाचार्यकी न्यायलीलावतीका अध्ययन किया। उसके पश्चात् श्रीगंगेशोपाध्यायकी 'न्यायतत्त्वचिन्तामणि' पढ़ी। आपने प्रत्येक ग्रन्थका अक्षरशः अवगाहन किया और कुछ ही समयमें आपकी न्यायके प्रमुख विद्वानोंमें गणना होने लगी। इन्हीं दिनों आपके ज्येष्ठ भ्राता श्रीयादवानन्दजी नवद्वीप आये। दोनों भाई बड़े प्रेमसे मिले, दोनोंहीके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु प्रवाहित होने लगे। आपका अपूर्व पाण्डित्य देखकर यादवानन्दजी बड़े प्रसन्न और प्रभावित हुए। वे आये तो थे इन्हें घर लौटा ले जानेके लिये, किन्तु फिर तो स्वयं भी घर जाना भूलकर न्यायवागीशजीसे पढ़ने लगे।

नवद्वीपमें श्रीमन्महाप्रभुजीके भक्तिभावसे प्रभावित होनेके कारण आपका आकर्षण भेदवादकी ओर बढ़ने लगा। न्यायदर्शनने उसे और भी पुष्ट कर दिया। विलक्षण प्रतिभा तो थी ही, अतः आपकी रुचि भेदवादके प्रधान प्रतिपक्षी अद्वैतवादका खण्डन करनेकी ओर हुई। इसके लिये उस सिद्धान्तके गम्भीर अध्ययनकी आवश्यकता थी। अतः इसी उद्देश्यसे आप काशी गये। उन दिनों काशीकी विद्वन्मण्डलीमें श्रीरामतीर्थ अग्रगण्य थे। आपने उनका शिष्यत्व स्वीकार किया और कुछ ही दिनोंमें अद्वैत साहित्यपर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया। इसके पश्चात् श्रीमाधवसरस्वतीसे आपने मीमांसा शास्त्रका भी अध्ययन किया। इस प्रकार कुछ ही समयमें आप सम्पूर्ण शास्त्रोंमें निष्णात हो गये।

*संन्यास*—इस शास्त्राध्ययनका परिणाम यह हुआ कि अद्वैतसिद्धान्तसे आपका विरोध निवृत्त हो गया। एक दिन आप आचार्यप्रवर श्रीरामतीर्थजीसे कह ही बैठे—"गुरुवर! मैंने अद्वैतवादका खण्डन करनेकी दृष्टिसे ही आपसे अध्ययन किया था। इस अपराधका आप मुझे कोई प्रायश्चित्त बतलाइये।" तब उन्होंने कहा, "इसका यही प्रायश्चित्त है कि अब तुम संन्यास ले लो।" आपने उन्हींसे संन्यास लेनेकी इच्छा प्रकट की। परन्तु वे बोले, "हमलोगोंमें आज-कल स्वामी रामसरस्वतीके शिष्य श्रीविश्वेश्वर सरस्वती विशेष सम्मानित हैं, तुम उन्हींसे दीक्षा लो।" आप तुरन्त चौसट्टी घाटपर गोपालमठमें श्रीविश्वेश्वर सरस्वतीके पास आये और उनसे सारा समाचार कह सुनाया। वे बोले, "हम तो दीक्षा देनेसे पहले परीक्षा लेते हैं। आप-जैसे प्रसिद्ध विद्वान्की परीक्षा यही है कि आप शाङ्कर सिद्धान्तके अनुसार कोई ग्रन्थ लिखकर दिखावें।" कहते हैं उन्होंने यह भी निर्देश कर दिया था कि वह ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीताकी व्याख्या होना



चाहिये। इसी निमित्तसे यह गूढ़ार्थदीपिका टीका लिखी गयी। एक वर्षमें पूर्ण होनेपर आपने इसे उन्हींके चरणकमलोंमें समर्पित किया। ग्रन्थके अन्तमें आपने जो समर्पणश्लोक लिखा है उसमें आपने अपने वेदान्तगुरु श्रीरामतीर्थ, दीक्षागुरु श्रीविश्वेश्वर सरस्वती और मीमांसागुरु श्रीमाधव सरस्वती तीनोंका उल्लेख किया है। यथा—

*'श्रीरामविश्वेश्वरमाधवानां प्रसादमासाद्य मया गुरूणाम्।*
*व्याख्यानमेतद् विहितं सुबोधं समर्पितं तच्चरणाम्बुजेषु॥'*

यह व्याख्या श्रीविश्वेश्वर सरस्वतीजीको बहुत पसंद आयी और उन्होंने शुभ मुहूर्त्तमें आपको संन्यासदीक्षा दे दी। तबसे आप श्रीमधुसूदन सरस्वती नामसे प्रसिद्ध हुए।

किन्तु गीताकी टीकामें आपके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ अद्वैतसिद्धिका उल्लेख है और अद्वैतसिद्धिमें 'श्रद्धाधनेन मुनिना' इस प्रकार 'मुनि' उपाधिके द्वारा आपने अपना परिचय दिया है। 'मुनि' शब्दका प्रयोग संन्याससे पहले हो नहीं सकता। इसलिये यही मानना अधिक युक्तियुक्त होगा कि गुरुदेवको परीक्षा देनेके लिये आपने कोई और ग्रन्थ लिखा होगा।

दण्डग्रहणके पश्चात् आपने श्रीक्षेत्रके समीप नदीतटपर किसी वनमें रहकर सत्रह वर्षतक तपस्या की। उन्हीं दिनों एक बार उस प्रान्तमें अवर्षणके कारण घोर दुर्भिक्ष पड़ा। उत्कलनरेश मुकुन्ददेव श्रीक्षेत्र आये और वहाँ उन्होंने आपसे भेंट की। राजाके अनुनय-विनय और सत्कारसे प्रसन्न होकर आपने आशीर्वाद दिया कि तुम्हारे राज्यमें अन्नकी वृद्धि हो। कहते हैं कि आपका वह आशीर्वाद सफल हुआ।

*भगवद्दर्शन*—इस प्रकार यद्यपि श्रीमधुसूदन सरस्वती प्रकाण्ड पण्डित, तपोनिष्ठ संत और प्रौढ़ दार्शनिक थे, शास्त्रार्थमें कोई भी उन्हें परास्त नहीं कर सकता था, तथापि अभी चित्त पूर्णतया शान्त नहीं था, वह कुछ नीरसता और अभावका अनुभव करता था। इसी समय एक परमहंसने उन्हें श्रीकृष्णोपासनाके लिये प्रेरित किया। वे बोले, "भैया! पुस्तकोंके इस थोथे पाण्डित्यमें कुछ नहीं रखा है। दूसरोंको शास्त्रार्थमें नीचा दिखानेसे भी व्यर्थ अभिमानकी ही वृद्धि होती है। यह मान-बड़ाईकी इच्छा भी एक प्रकारका शारीरिक मोह ही है। तुम्हें सच्चा आनन्द तो आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंकी शरण लेनेपर ही मिल सकता है।"

बस, इन्होंने परमहंसजीके चरण पकड़ लिये। उन्होंने इन्हें कृष्णमन्त्रकी दीक्षा दी। एक बार तो तीन महीने अनुष्ठान करनेपर भी कोई लाभ दिखाई न देने से ये ऊबकर इधर-उधर विचरने लगे। परन्तु फिर उन्हीं परमहंसजीने इन्हें दीर्घकालतक निरन्तर भजन करनेके लिये प्रेरित किया। तब ये काशी आकर कई वर्षतक तत्परताके साथ भजनमें संलग्न रहे। तब इन्हें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शन हुए और इनका हृदय प्रभुप्रेमसे छककर सदाके लिये उन्हींके चरणकमलोंका चञ्चरीक हो गया। सचमुच श्रीमधुसूदन सरस्वतीमें तत्त्वनिष्ठा और भगवत्प्रेमका जैसा सामञ्जस्य देखा जाता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ ही है। आपने अपनी इस अलौकिक स्थितिका स्वयं ही बड़ा मार्मिक चित्रण किया है—

*'अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः।*
*शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन॥'*

अर्थात् यह ठीक है कि अद्वैतपथके पथिक हमारी उपासना ( सेवा-पूजा ) करते हैं और हम मोक्षपदरूप सिंहासनपर भी आरूढ हो चुके हैं, तथापि गोपाङ्गनाओंके प्रेमी किसी एक शठने हमें बलात्कारसे अपना चेरा बना लिया है।

ऐसी है श्रीमधुसूदन स्वामीकी तत्त्वनिष्ठा और प्रेमनिष्ठा। वे एक ओर अद्वैतसिद्धि-जैसे अद्वैतवादियोंके अमोघ अस्त्रके प्रणेता हैं तो दूसरी ओर भक्तिरसायन की रसधाराका भी सृजन करनेवाले हैं।

*ग्रन्थरचना*—आपकी ग्रन्थसम्पत्तिमें आपकी सर्वतोमुखी प्रतिभाका परिचय प्राप्त होता है। आपके नामसे बाईस ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। उनमेंसे निम्नाङ्कित सत्रह ग्रन्थ तो निर्विवाद रूपसे आपहीके हैं—( १ ) वेदान्तकल्पलतिका, ( २ ) सिद्धान्तबिन्दु, ( ३ ) भक्तिरसायन, ( ४ ) गीतानिबन्ध, ( ५ ) गीताव्याख्या गूढार्थदीपिका, ( ६ ) अद्वैतसिद्धि, ( ७ ) अद्वैतरत्नरक्षण, ( ८ ) महिम्नस्तोत्रव्याख्या, ( ९ ) प्रस्थानभेद, ( १० ) संक्षेप-शारीरिकव्याख्या, ( ११ ) आनन्दमन्दाकिनी, ( १२ ) हरिलीलाविवेक, ( १३ ) भागवत टीका, ( १४ ) शाण्डिल्यसूत्र-व्याख्या, ( १५ ) रासपञ्चाध्यायीटीका, ( १६ ) कृष्णकुतूहल नाटक, ( १७ ) आत्मबोधटीका। इनके अतिरिक्त जरावृष्टविकृति, सर्वविद्यासिद्धान्त-वर्णन, सिद्धान्तलेशटीका, राज्ञां प्रतिबोधः और वेदस्तुतिटीका—ये पाँच ग्रन्थ भी आपके ही बताये जाते हैं।

*शिष्यवर्ग*—यों तो कितने ही विद्वान् अपनी विद्या-बुद्धिके लिये आचार्य श्रीमधुसूदन-सरस्वतीके ऋणी हैं। तथापि आपके प्रधान शिष्य तीन ही हैं—श्रीबलभद्र भट्टाचार्य, श्रीशेषगोविन्द और श्रीपुरुषोत्तम सरस्वती। इनमेंसे श्रीबलभद्र भट्टाचार्यने अद्वैतसिद्धिकी सिद्धि नामकी व्याख्या की है, शेषगोविन्दजीने भगवान् शंकराचार्यके सर्ववेदान्त-सिद्धान्तसारसंग्रह नामक ग्रन्थकी टीका लिखी है तथा पुरुषोत्तम सरस्वतीने सिद्धान्त-बिन्दुकी व्याख्या की है। बलभद्रभट्टाचार्य ब्रह्मचारी थे। शेषगोविन्द महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे, इनका दूसरा नाम कृष्णपण्डित भी था। ये प्रसिद्ध वैयाकरण भट्टोजी दीक्षितके गुरु थे तथा पुरुषोत्तम सरस्वती संन्यासी थे।

*महाप्रयाण*—कहते हैं, श्रीमधुसूदन सरस्वतीने १०७ वर्षकी आयुमें हरिद्वारमें विदेहकैवल्य प्राप्त किया। इस प्रकार यद्यपि यह भक्ति और ज्ञानका सूर्य जनताकी स्थूल दृष्टिसे तो ओझल हो गया, परन्तु उसकी प्रखर प्रभा आज भी उसके हृदयस्थ अज्ञानान्धकारको निवृत्त कर रही है। ऐसे महापुरुष वास्तवमें कभी नहीं मरते। उनकी अमर कीर्ति सर्वदा ही लोक-लोकान्तरोंको आलोकित करती रहती है।

# भूमिका

मानव-मस्तिष्क वस्तुतः स्वर्ग और नरकका एक मात्र साधन है। भारतीय मनीषियोंके कितने मार्मिक उद्गार हैं—'चित्तनदी नामोभयतो वाहिनी—वहति कल्याणाय, वहति पापाय च' ( यो० भा० १।१२ ) यह पुण्यतोया भागीरथी भी है और मागधी कर्मनाशा भी। इसका स्वाभाविक प्रवाह संसारकी ओर ही है। इस प्रवृत्ति-प्रवाहको निवृत्ति-पथपर ले जानेके लिए विपरीत दिशामें ऊर्ध्वस्रोता महर्षि बदलते आये हैं। नैसर्गिक प्रवाहका रोकना और विपरीत दिक्परिवर्तन सरल कार्य नहीं, नदी विकराल रूप धारण कर लेती है, जिससे पार होनेके लिए भगवान् वेद साधकोंको सावधान करता है—'अश्मन्वती रीयते संरभध्वमुत्तिष्ठत प्रतरता सखायः' ( ऋ० १०।५३।८ ) मित्रो! उठो और सतर्क होकर इस पथरीली प्रलयङ्कर वेगवाली नदीको पार करो। इसका बाँध टूट सकता है, संकटापन्न अवस्था आ सकती है, नाविक विह्वल होकर 'स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' का भाजन भी बन सकता है। यह अध्यात्मवीथी क्षुरधारा है। इसपर भगवद्गीताका सच्चा उपासक ही सकुशल एवं सफल यात्रा कर सकता है। यों तो धर्म, अर्थ, मोक्ष और काम पुरुषार्थचतुष्टय-प्रदायिनी गीता है, परन्तु इसके 'ब्रह्मविद्या', 'उपनिषद्', 'योगशास्त्र' आदि सभी नाम निवृत्तिमार्गकी ओर विशेषतः संकेत कर रहे हैं। अतः अध्यात्मविद्या-प्रतिपादक शास्त्रोंमें गीताका विशिष्ट स्थान है।

अद्वैत मतसे लेकर द्वैत मत तकके प्रायः सभी आचार्योंने गीतापर लेखनी उठाई है और एकमत होकर इसे युगधर्मविधायक, अपरिवर्तनीय सनातन शास्त्र माना है। कर्म, भक्ति और ज्ञानका समन्वय किसी-न-किसी रूप एवं मात्रामें सभी आचार्य मानते हैं। यह एक कटु तथ्य है कि शाङ्कर अद्वैतवादमें जैसा उपनिषत्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीताका सामञ्जस्य है, वैसा अन्य मतोंमें नहीं। इस मतकी गीता-व्याख्याओंमें सर्वाधिक लोकप्रिय मधुसूदन सरस्वतीकी 'गूढार्थ-दीपिका व्याख्या' है। इसका पूर्ण परिचय प्राप्त करनेके लिए हमें मधुसूदन सरस्वतीके दृष्टिकोण, अन्य व्याख्याओंसे गूढार्थदीपिकाकी विशेषता, इसकी आलोचना एवं सरस्वतीजीके जीवनका कुछ परिचय पाना आवश्यक है। जीवन-परिचय भूमिकासे पहले ही दिया जा चुका है।

**मधुसूदन सरस्वतीका दृष्टिकोण**—श्रीमधुसूदन सरस्वती पक्के अद्वैतवादी थे। अद्वैत-सिद्धि आदि ग्रन्थोंमें इन्होंने प्रबल प्रमाणों और अकाट्य युक्तियोंके आधारपर द्वैतमतका निराकरण और अद्वैतमतका संपोषण किया है। फिर भी भक्ति प्रसङ्गोंमें अन्य अद्वैतियोंकी अपेक्षा इनका दृष्टिकोण विलक्षण परिलक्षित होता है। 'यद्भक्तिं न विना मुक्तिः' ( गी० अ० ७ आरम्भ ) जैसी निर्भीक सूक्तियाँ विशेषतः विचारणीय हैं। शांकरभाष्यसे भी इनका कहीं-कहीं अन्तर कहा जाता है। अतएव धनपति सूरि आदि विद्वानोंने गीताकी अपनी व्याख्या 'भाष्योत्कर्षदीपिका'में इनकी खूब आलोचना की है। जैसे कि—अ० २ श्लो० ५ की व्याख्यामें सरस्वतीजीने मूलस्थ 'हि महानुभावान्' वाक्यको 'हिमहानुभावान्' एक पद मानकर अपना लोकोत्तर योजना-कौशल दिखाते हुए 'हिमहानुभावान्' का अर्थ किया है—हिमके हन्ता सूर्य या अग्निके समान सामर्थ्यवाले अतः अतितेजस्वी होनेके कारण आचार्यगण वध्य नहीं। सरस्वतीजीके इस योजना-कौशलपर कुठाराघात करते हुए धनपति सूरिने कहा है कि सूर्यके समान सामर्थ्य दिखाकर आचार्योंकी अवध्यताका प्रतिपादन उपक्रम-विरुद्ध है, क्योंकि आरम्भमें उन्मार्गगामी गुरुजनोंका परित्याग

प्रस्तुत किया गया है, वह नहीं। अ० २ श्लो० ७ में 'श्रेयः' पदका अर्थ सरस्वतीजीने परमपुरुषार्थ-भूत मोक्ष किया है—इसे उपहासास्पद बताते हुए सूरिजीने कहा है कि अर्जुन ( धर्मसंमूढचेताः ) धर्मविषयक सन्देहवाला है, किन्तु धर्मकी बात न पूछकर मोक्षकी जिज्ञासा करता है—यह नितान्त असंगत है। अतः 'श्रेयः' का अर्थ हितावह करना चाहिए, मोक्ष नहीं। अ० २, श्लो० ११ की गूढार्थदीपिकामें अर्जुनका द्विविध मोह-प्रदर्शन भाष्यविरुद्ध ठहराया गया है। अ० २ श्लो० १३ के अवतरणमें सरस्वतीजीने लोकायतिक मतसे शंका उठाई कि शरीर ही आत्मा है, इसके मरनेसे शोक अवश्य होगा। भगवान्‌ने श्लोकमें उस शंकाका समाधान किया कि देहसे भिन्न आत्मा है, देहके नष्ट होनेसे आत्मा नष्ट नहीं होता। किन्तु भाष्यकारने अवतरणमें वैसी शंका नहीं उठाई, अपितु सीधा कह दिया है कि भगवान् आत्माकी नित्यतामें दृष्टान्त देते हैं। भाष्यकारकी इस न्यूनताका आभास सरस्वतीजीके हृदयमें हुआ, उसका निरास करते हुए धनपतिसूरिने कहा है कि भाष्यकारने शारीरक भाष्यमें लोकायतिक मतका पुष्कल खण्डन किया है, अतः यहाँ वैसी शंका न करना न्यूनता नहीं। अ० २ श्लो० १५ की व्याख्यामें 'शीतोष्णसुखदुःखदा' पदका अर्थ सरस्वतीजीने शीतोष्णके द्वारा सुखदुःखदा किया है किन्तु भाष्यकारने शीत, उष्ण, सुख और दुःख देनेवाले किया। सरस्वतीजीकी व्याख्याको असंगत बताते हुए सूरिजीने कहा है कि सर्वत्र मात्रास्पर्शके सुखादि-प्रदानमें शीतादि द्वार नहीं बन सकते, क्योंकि शीत-स्पर्श कभी सुख देता है कभी दुःख, इसी प्रकार उष्णस्पर्श कभी सुखका निमित्त होता है और कभी दुःखका, अतः शीतस्पर्शको नियमतः सुख एवं उष्णस्पर्शको दुःखका द्वार ( निमित्त ) बताना अत्यन्त अनुचित है, इसलिए भाष्यकारकी व्याख्या ही उचित और संगत है। अ० २ श्लो० १६ के व्याख्यानांशमें भाष्यसे अन्तर दिखाकर दोषोद्भावन किया गया है। अ० २ श्लो० १९ की पातनिकामें सरस्वतीजीने वधकर्तृत्वप्रयुक्त पापकी आशङ्का उठाई और इस श्लोकसे उसका परिहार किया और इस श्लोकको कठोपनिषत्‌की ऋचाका स्वरूप बताया। यहाँ सूरिजीने असम्भव दोष बताया, क्योंकि कठ-मन्त्रमें हननकर्त्ताको पाप नहीं होता—यह प्रतिपादित नहीं और जब पूर्व श्लोकमें आत्माको नित्य सिद्ध कर दिया गया, तो उसके वधसे पापकी आशङ्का भी नहीं हो सकती। अ० २ श्लो० २० के अवतरणमें सरस्वतीजीने कहा है—यह आत्मा हनन क्रियाका कर्त्ता तथा कर्म क्यों नहीं—यह बात 'न जायते म्रियते' श्लोकसे कही जाती है और इसी अध्यायके २१वें श्लोककी भूमिकामें कहा है कि 'न जायते म्रियते' श्लोकमें केवल हनन क्रिया की कर्मताका अभाव बताया गया। अतः दोनों कथन परस्पर विरुद्ध हैं। अ० २ श्लो० २२ में सरस्वतीजीने जीर्णका निकृष्ट और नवका उत्कृष्ट अर्थ किया, उसे भी असंगत और प्रकरणविरुद्ध बताया गया है। अ० २ श्लो० २४ में सरस्वतीजीका 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' आदि श्रुतियोंके द्वारा तत्पदार्थका निरूपण अकाण्डताण्डव बताया गया, क्योंकि प्रकरण त्वं पदार्थ-निरूपण का है। एवं शस्त्रोंमें स्थित आत्मा शस्त्रों द्वारा नहीं काटा जा सकता—इस कथनको अनुभव-विरुद्ध बताया गया, क्योंकि शस्त्रोंमें स्थित लोहादि कटता देखा गया है। अ० २ श्लो० २१ के अवतरणमें सरस्वतीजीने कहा है कि यदि आत्माको भूतप्रलय पर्यन्त स्थायी अथवा अनित्य माना जाय, तब तो दृष्टादृष्ट दुःख सम्भव है, उसके भयसे शोक करना भी उचित है—इस शंकाका परिहार 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' श्लोकसे किया गया है। इस अवतरणको प्रकरण और भाष्य दोनोंसे विरुद्ध बतलाया गया है। अ० २ श्लो० ३९ की व्याख्यामें 'कर्मबन्धं' शब्दका ज्ञान-प्रतिबन्धक अन्तःकरणाशुद्धि अर्थ करना असंगत ठहराया गया है, क्योंकि भाष्यादि ग्रन्थोंमें समस्त कर्मोंको ही बन्धनरूपमें माना गया है। अ० २ श्लो० ५४ की व्याख्यामें प्रकरणगत तत्त्वज्ञानरूप समाधिको छोड़कर योग समाधिका लक्षण प्रस्तुत करना सरस्वतीजीकी भूल बताई गई है, क्योंकि



योगका वहाँ प्रकरण ही नहीं, ज्ञानका ही प्रकरण है। अ० २ श्लो० ६७ की गूढार्थदीपिकामें कहा गया है कि इन्द्रियोंके मध्यमें जो एक भी इन्द्रिय मनके द्वारा अनुसृत होती है, ऐसी एक भी इन्द्रिय साधक या मनकी प्रज्ञाका हरण कर लेती है, सबकी तो बात ही क्या? किन्तु भाष्यकारने कहा है कि विषयलम्पट इन्द्रियोंका अनुगामी मन साधककी प्रज्ञाका हरण करता है। यहाँपर धनपति सूरिने सरस्वतीजीकी व्याख्याको अयुक्त बताते हुए कहा है कि 'नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य' के अनुरोधसे मनको ही बुद्धिका हरणकर्त्ता मानना होगा, अतः इन्द्रियको प्रज्ञाका हरणकर्त्ता बताना अयुक्त और भाष्यविरुद्ध है। अ० २ श्लो० ७० में सरस्वतीजीने 'अचलप्रतिष्ठं' पदकी सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है—'अचलानां मैनाकादीनां प्रतिष्ठा यस्मिन्' अर्थात् मैनाकादि पर्वत भी जिस महासागरमें डूबे पड़े रहते हैं, ऐसे नितान्त गम्भीर समुद्रमें नदियाँ जैसे प्रविष्ट होती हैं। किन्तु भाष्यकारने अचलतया प्रतिष्ठा यस्य—ऐसा सीधा अर्थ किया है। सरस्वतीजीकी इस उड़ानका भी विरोध करते हुए सूरिजीने कहा है कि यहाँ अचलता समुद्रमें ही विवक्षित है, अतः भाष्यकारका पक्ष ही न्यायसंगत है।

अ० ३ श्लो० ३ की गूढार्थदीपिकामें 'पुरा' शब्दका अर्थ सरस्वतीजीने पूर्व अध्याय और भाष्यकारने पूर्व सृष्टिकाल किया है। धनपति सूरिका कहना है कि 'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहम-व्ययम्'—इस वक्ष्यमाण वचनके अनुसार पुराका अर्थ सृष्टिकाल ही करना चाहिए, पूर्व अध्याय अर्थ करना सरस्वतीजीकी स्पष्ट भूल है। अ० ३ श्लो० १८ की व्याख्यामें सरस्वतीजीने योगवासिष्ठ-कथित 'ज्ञानभूमिः शुभेच्छा' आदि ब्रह्मवेत्ताकी सात भूमियोंका वर्णन किया है। भाष्यकारने उनकी चर्चा नहीं की। सूरिजीने कहा है कि इस श्लोकमें 'भूमिकारूढस्य'—ऐसा कोई पद नहीं, अतः भूमियोंका वर्णन अप्रासङ्गिक और व्यर्थका विस्तार है। अ० ३ श्लो० २८ की व्याख्यामें 'विभाग' पदका अर्थ किया है—'विभज्यते सर्वेषां जडानां भासकत्वेन पृथक् भवति—इति विभागः स्वप्रकाशज्ञानरूपोऽसङ्ग आत्मा'। भाष्यकारने गुणविभाग और कर्मविभाग—अर्थ किया, इस पक्षमें सरस्वतीजीने विभाग पदकी प्राप्ति-निरर्थकतापर चिन्ता प्रकट की है। इसकी आलोचना करते हुए सूरिजीने कहा है कि सरस्वतीजीका व्याख्यान ही यहाँ चिन्त्य है, क्योंकि सरस्वतीजीने विभागपदका खींचातानीसे परमात्मा अर्थ करके गुण कर्म पदके साथ द्वन्द्व समास किया, फिर तो अल्पाच् होनेके कारण विभाग पदका पूर्व प्रयोग होकर विभागगुणकर्मणोः ऐसा शब्द बनेगा, अतः व्याकरणके मोटे नियमोंका ज्ञान भी सरस्वतीजीको नहीं था।

अ० ५ श्लो० ७ की व्याख्यामें सरस्वतीजीने 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' पदके भाष्यकारीय विग्रहमें दोष दिखाया कि 'सर्वेषां ब्रह्मादीनां स्तम्बपर्यन्तानां भूतानामात्मभूत आत्मा'—इस विग्रहमें आत्म-भूत पद व्यर्थसा हो जाता है, अतः ऐसा विग्रह करना चाहिए—'सर्वभूत आत्मभूतश्चात्मा स्वरूपं यस्य सतथा'। सूरिजीने सरस्वतीजीके विग्रहको प्रामादिक बतलाते हुए कहा है कि सर्वपद समस्त जडाजडका वाचक है, अतः सर्वभूतात्मा—इतनेसे ही अभीष्ट अर्थका लाभ हो जाता है, पदाधिक्य दोष तो सरस्वतीजी के पक्षमें भी प्रसक्त होता है। नीलकण्ठने भी ऐसा ही कहा है, अतः कथित भाष्यदोष किसी अन्य विद्वान्‌का होना चाहिए। अ० ६ श्लो० १९ की व्याख्यामें सरस्वतीजीने आत्मनः पदका अन्तःकरणस्य अर्थ किया है और भाष्यकारने आत्माका आत्मा ही अर्थ किया है। इसपर सरस्वतीजीने दोष दिया कि इस पक्षमें दीप दृष्टान्तका दार्ष्टान्तिक नहीं मिलता और हमारे पक्षमें अन्तःकरण दार्ष्टान्तिक बन जाता है। इसपर दोष दिखाते हुए सूरिजीने कहा है कि सर्वत्र दार्ष्टान्तिकका उल्लेख आवश्यक नहीं। अ० ६ श्लो० ३० की व्याख्यामें सरस्वतीजी कहते हैं—शुद्ध त्वं पदार्थका निरूपण करके शुद्ध तत्पदार्थका निरूपण करते हैं—यो मां पश्यति सर्वत्र अर्थात् जो योगी मुझ परमात्माको योगज प्रत्यक्ष-

से देखता है, उसे मैं कभी नहीं भूलता। इस पर सूरिजीने कहा है कि यह व्याख्यान मूल ग्रन्थ, भाष्य तथा स्वव्याख्यानसे विरुद्ध है। 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'—इस श्रुतिसे इस सार्वभौम सिद्धान्त-का प्रतिपादन हो चुका है कि शुद्धपरमात्मा वेदान्त-जन्य वृत्तिका ही विषय होता है, अन्य प्रमाणोंका नहीं, फिर वह योगज प्रत्यक्षका विषय कैसे होगा? मूल गीता और भाष्यकारादिका भी यही मत है। स्वयं सरस्वतीजीने भी अद्वैतसिद्धि आदि ग्रन्थोंमें इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है।

अ० ७ श्लो० २१ की व्याख्यामें सरस्वतीजीने कहा है कि भाष्यकारने तामेव श्रद्धां विद-धामि—ऐसा सीधा अर्थ किया है। इस अर्थमें 'यत्-तत्'का अन्वय ठीक नहीं बैठता, अतः 'यां देवता-मर्चितुमिच्छति, तां देवतां प्रति श्रद्धां विदधामि'—इस प्रकार 'प्रति' शब्दका अध्याहार करके अर्थ करना चाहिए। धनपति सूरिने कहा कि 'यया श्रद्धया, तां श्रद्धां'—इस प्रकार श्रद्धाके साथ यया पदका अध्याहार करके भाष्योक्त तां श्रद्धां लग सकता है, फिर प्रति शब्दका अध्याहार करके भाष्यसे विरुद्ध अर्थ करना कदापि संगत नहीं। अ० ७ श्लो० २९ के कर्मपदका अर्थ सरस्वतीजीने किया है—गुरूपसदन, श्रवण, मननादि। इसपर सूरिजीने कहा है कि 'भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः'—इस मूल और भाष्यमें कथित याग, दान, होमात्मक वैदिक कर्मका ग्रहण किया गया है, वही यहाँ अभिप्रेत है, श्रवणादि नहीं। अ० ८ श्लो० २० के 'अव्यक्त' पदका भाष्यकारने अविद्या अर्थ किया और सरस्वतीजीने हिरण्यगर्भ। सूरिजीने कहा कि 'अव्यक्तात् पुरुषः परः'—इस श्रुतिके अनुसार यहाँ अव्यक्त पदका माया अर्थ करना ही उचित है, हिरण्यगर्भ नहीं। अ० ९ श्लो० १५ के ज्ञान पदका व्याख्यान सरस्वतीजीने अहंग्रह उपासना किया है। इसपर दोष दिखाते हुए सूरिजीने कहा है कि ज्ञान पदका जब यहाँ मुख्य अर्थ लिया जा सकता है, तब गौण अर्थ करना उचित नहीं। इसी प्रकार पूर्ण सारस्वत व्याख्यानको कठिन आलोचनाओंका सामना करना पड़ा है। इससे यह अत्यन्त स्पष्ट है कि श्रीमधुसूदन सरस्वतीका दृष्टिकोण निर्भीक रूपसे अपने विचारोंको प्रकट करनेमें था। इसे उन्होंने पूर्ण किया। आत्माकार प्रज्ञाका उदय भक्ति योग आदि अन्य साधनोंसे भी हो सकता है—यह बात इनकी व्याख्यामें झलक रही है। मोक्षमें ज्ञानके साथ भक्तिका भी पर्याप्त उपयोग माना है। गीताके अन्य व्याख्यानोंमें जहाँ पूर्वाचार्य निर्धारित सीमाका अनुल्लङ्घन, स्थान-स्थानपर अपने भावोंका संवरण एवं मूलके कतिपय पदोंको व्यर्थ समझकर परित्याग किया गया है, वहाँ सरस्वतीजीने अपना वैदुष्य सर्वत्र व्यक्त किया और भगवान्के श्रीमुखसे समुद्भूत प्रत्येक अक्षरको सार्थक एवं भावपूर्ण समझ कर गूढार्थदीपिकाका प्रणयन किया है। इसके आधारपर इनके कुछ विशिष्ट सिद्धान्त निकलते हैं, जिन्हें यहाँ व्यक्त करनेका अवसर नहीं पा रहा हूँ।

## अनुवादकका स्वल्प परिचय

अनुवाद भी एक प्रशस्त कला है। सबके ललाटपर इसकी रेखा नहीं होती। अनुवादके साथ अनुवादकके व्यक्तित्वका तादात्म्य होता है। कुशल अनुवादकके शब्दोंमें मूल ग्रन्थकी घूमिल अन्तरात्मा भी निखर पड़ती है, उसका वर्चस्व प्रखर और भावाभिव्यञ्जना प्रस्फीत हो जाती है। प्रस्तुत अनुवाद इसी कोटिका है। श्रीमधुसूदन सरस्वती-जैसे दिग्गज विद्वान्की लेखनी प्रोन्नत वैदुषीकी निकषग्रावा है। उसकी विद्युच्चपल लोकोत्तर वक्र थिरकनका स्थिर स्वच्छ सुगम चित्रपटपर अङ्कन करना असम्भव नहीं, तो क्लिष्ट अवश्य है। इस कार्यमें यह अनुवाद पूर्ण कृतार्थ और शत-प्रतिशत सफल उतरा है।

इस ग्रन्थरत्नके अनुवादक हैं स्वनामधन्य स्वामी श्रीसनातनदेवजी। पूर्वाश्रममें आप श्रीमुनि-लालजीके नामसे प्रसिद्ध थे। आपने गीताप्रेस गोरखपुर द्वारा प्रकाशित 'कल्याण'के सम्पादन विभागमें रहते हुए अनेक उच्चकोटिके ग्रन्थोंका अनुवाद किया था। यद्यपि स्वास्थ्य बिगड़ जानेके



कारण आपकी शिक्षा-दीक्षा विशेष नहीं हो सकी, तथापि भगवत्कृपा और संतोंके आशीर्वादसे बाल्य-कालसे ही लिखने-पढ़नेमें आपकी अच्छी रुचि थी। विद्यार्थी जीवनमें ही सामयिक पत्र-पत्रिकाओंमें आपकी रचनाएँ प्रकाशित होने लगी थीं। आपका जीवन बहुत ही सात्त्विक और सरल है। किसी प्रकार की बनावट या दिखावट आपको पसंद नहीं है। आप पैसा पास नहीं रखते और वस्त्रादि अन्य सामग्री भी आवश्यकतासे अधिक रखना आपकी रुचिके विरुद्ध है। आपके द्वारा अबतक जिन ग्रन्थोंका अनुवाद, सम्पादन और प्रणयन हुआ है उनकी सूची इस प्रकार है—

१. श्रीमद्भागवत ( हिन्दी अनुवाद )
२. विष्णुपुराण ,, ,,
३. अध्यात्मरामायण ,, ,,
४. मुमुक्षुसर्वस्वसारसंग्रह ,, ,,
५. विवेकचूड़ामणि ,, ,,
६ प्रबोधसुधाकर ,, ,,
७. अपरोक्षानुभूति ,, ,,
८. शतश्लोकी ,, ,,
९. सनत्सुजातीयभाष्य ,, ,,
१०. गीतावली ,, ,,
११. ईशावास्योपनिषत् (शां. भा.) ,, ,,
१२. केनोपनिषत् ,, ,, ,,
१३. कठोपनिषत् ,, ,, ,,
१४. प्रश्नोपनिषत् ,, ,, ,,
१५. मुण्डकोपनिषत् ,, ,, ,,
१६. तैत्तिरीयोपनिषत् ,, ,, ,,
१७. ऐतरेयोपनिषत् ,, ,, ,,
१८ माण्डूक्योपनिषत् ,, ,, ,,
१९. छान्दोग्योपनिषत् ,, ,, ,,
२०. बृहदारण्यकोपनिषत् ,, ,, ,,
२१. श्वेताश्वतरोपनिषत् ,, ,, ,,
२२. बृहन्नारदीयपुराण (अप्रकाशित) (हिन्दी अनुवाद)
२३. वाल्मीकीय रामायण ( सुन्दरकाण्ड ) ,, ,,
२४. उपदेशसाहस्री ,, ,,
२५. दोहावली ,, ,,
२६. योगसारसंग्रह ,, ,,
२७. भगवद्गीता ( मधुसूदनी ) ,, ,,
२८. श्रीउड़ियाबाबाजीके उपदेश ( संशोधित और सम्पादित )
२९. श्रीउड़ियाबाबाजीके संस्मरण ,,
३०. श्रीहरि बाबाजी ,,
३१. पारसमणि ( भाषा-परिवर्तन )
३२. अद्वैतमकरन्द ( हिन्दी अनुवाद )
३३. ब्रह्मगीता ,,
३४. योगरसायन ( मौलिक ग्रन्थ )

**खोए हुए ग्रन्थ—**

३५. राधासुधानिधिस्तोत्र
३६. अनुभूतिप्रकाश
३७. योगदर्शन
३८. वीरविजय

इतना साहित्य-सर्जन करनेके पश्चात् भी आपमें लेखक होनेका तनिक भी अभिमान नहीं। आपके सौजन्य, निरभिमानता तथा त्याग से मैं पूर्ण प्रभावित हूँ। आपके आदेशानुसार मैंने इस ग्रन्थपर टिप्पणी लिखना स्वीकार किया। कुछ दूरतक टिप्पणी छपी भी, किन्तु समयाभावके कारण अन्ततक इसका यथावत् निर्वाह न हो सका। टिप्पणी मैं लिख रहा हूँ, किन्तु इस कार्यके लिए समय बहुत थोड़ा निकाल पाता हूँ। सम्भवतः दूसरे संस्करणमें पूरी टिप्पणी छप जायगी। ग्रन्थकी उपादेयता के विषयमें कुछ अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं, विद्वान्से लेकर साधारण साक्षर व्यक्ति भी इससे लाभ उठा सकता है। चौखम्बा संस्कृत सीरीज तथा चौखम्बा विद्याभवनके अधिकारियोंने अच्छे ग्लेज कागज एवं नूतन टाइप आदि उपकरणोंसे इस ग्रन्थका कलेवर सुन्दर बनाया है, इसके लिए मैं इन्हें अवश्य धन्यवाद दूँगा।

२६-१-६२
उदासीन संस्कृत विद्यालय
ढुण्ढिराज : वाराणसी

**स्वामी योगीन्द्रानन्द**
न्यायाचार्य, मीमांसातीर्थ

## अध्याय-सूची


| | | | पृष्ठाङ्क |
|---|---|---|---|
| १. पहला अध्याय | : अर्जुनविषादयोग | ... | १ |
| २. दूसरा अध्याय | : सांख्ययोग | ... | ३९ |
| ३. तीसरा अध्याय | : कर्मयोग | ... | १६६ |
| ४. चौथा अध्याय | : ज्ञानकर्मसंन्यासयोग | ... | २११ |
| ५. पाँचवाँ अध्याय | : संन्यासयोग | ... | २६१ |
| ६. छठा अध्याय | : आत्मसंयमयोग | ... | २९८ |
| ७. सातवाँ अध्याय | : ज्ञानविज्ञानयोग | ... | ३७६ |
| ८. आठवाँ अध्याय | : अक्षरपरब्रह्मयोग | ... | ४०६ |
| ९. नौवाँ अध्याय | : राजविद्याराजगुह्ययोग | ... | ४३३ |
| १०. दसवाँ अध्याय | : विभूतियोग | ... | ४६३ |
| ११. ग्यारहवाँ अध्याय | : विश्वरूपदर्शननिरूपण | ... | ४८७ |
| १२. बारहवाँ अध्याय | : भक्तियोग | ... | ५१९ |
| १३. तेरहवाँ अध्याय | : क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग | ... | ५३६ |
| १४. चौदहवाँ अध्याय | : गुणत्रयविभागयोग | ... | ५६९ |
| १५. पन्द्रहवाँ अध्याय | : पुरुषोत्तमयोग | ... | ५८८ |
| १६. सोलहवाँ अध्याय | : दैवासुरसम्पद्विभागयोग | ... | ६०९ |
| १७. सत्रहवाँ अध्याय | : श्रद्धात्रयविभागयोग | ... | ६३२ |
| १८. अठारहवाँ अध्याय | : मोक्षसंन्यासयोग | ... | ६५२ |


ॐ

❀ श्रीपार्थसारथये नमः ❀

# श्रीमद्भगवद्गीता

## सानुवादया मधुसूदनीव्याख्यया संवलिता

### अथ प्रथमोऽध्यायः

( मधुसूदनसरस्वतीकृता व्याख्या )

ॐ नमः परमहंसास्वादितचरणकमलचिन्मकरन्दाय भक्तजनमानसनिवासाय श्रीमद्रामचन्द्राय ।

(१) भगवत्पादभाष्यार्थमालोच्यातिप्रयत्नतः । प्रायेः प्रतिपदं[3] कुर्वे गीतागूढार्थदीपिकाम् ॥ १ ॥

### पहला अध्याय

### ( अर्जुनविषादयोग )

यं वाष्पविक्लेदविधौतवक्त्रं निर्भर्त्सयन्ती नयनाञ्चलेन ।
दुष्टेति शिष्टेति जुहाव गोपी तं वेपमानं शिशुमानतोऽस्मि ॥

(१) पूज्यपाद भगवान् शङ्कराचार्यके भाष्यके अर्थका बड़ी तत्परतासे विचार करके श्रीमद्भगवद्गीताके प्रायः प्रत्येक पदकी यह गूढार्थदीपिका नामकी व्याख्या करता हूँ ॥ १ ॥

---

माता भाले विलेलेति, तत्प्रलेलेति कज्जलम् । शाशप्ति यं वृथायासो सोऽव्यात् कृष्णस्य कालिमा ॥

१. 'भाष्यार्थमालोच्य'—इस वाक्यका 'भाष्यके अर्थका विचार करके'—यही अनुवाद उचिततर प्रतीत होता है। कुछ मान्य विद्वानोंने 'भाष्यका अवलोकन कर'—ऐसा अनुवाद किया है, वह भावार्थ-कथनमात्र है। मधुसूदनसरस्वतीका यहाँ आशय यह है कि मैंने भगवान् शङ्कराचार्यके गीताभाष्यके अर्थकी बड़ी गहराईसे आलोचना ( विचारणा ) की। इससे मुझमें वह अपार सामर्थ्य आया कि जिससे गीताके प्रत्येक अक्षर या पद का रहस्योद्घाटन कर सकूं। मेरी व्याख्या सर्वथा सम्प्रदायानुगुण है। 'गीता' और 'उपनिषत्'—दोनों समानलिङ्क पदोंसे एक ब्रह्मविद्या ही विवक्षित है, उसकी प्राप्तिके लिए आचार्यवान् होना ( आचार्य की शरण लेना ) परम आवश्यक है।

२. 'प्रायः' पदसे यह सूचित किया गया है कि सन्दिग्धार्थक या कठिनार्थक पदोंकी व्याख्या अवश्य की गई है। हाँ, कुछ अत्यन्त प्रसिद्धार्थक पदोंकी व्याख्या नहीं भी की है। मधुसूदनसरस्वतीका यह एक महान् वैशिष्ट्य है कि जहाँ दूसरे व्याख्याता सन्दिग्धार्थक पदोंकी उपेक्षा कर देते हैं, वहाँ इन्होंने अवश्य विचार किया है और जमकर लेखनी चलाई है।

३. 'प्रतिपदं'के स्थानपर 'प्रत्यक्षरम्' भी पाठान्तर उपलब्ध होता है। उसका भी तात्पर्य प्रत्येक पदके ग्रहणमें ही है।

४. 'गूढार्थदीपिका'—गूढ अर्थोंको प्रकट करनेवाली व्याख्या। 'गूढ'का अर्थ होता है—

सहेतुकस्य संसारस्यात्यन्तोपरमात्मकम् । परं निःश्रेयसं गीताशास्त्रस्योक्तं प्रयोजनम् ॥ २ ॥
सच्चिदानन्दरूपं तत्पूर्णं विष्णोः परं पदम् । यत्प्राप्तये समारब्धा वेदाः काण्डत्रयात्मकाः ॥ ३ ॥

**अपने कारण-सहित संसारकी आत्यन्तिकी निवृत्ति ही परम निःश्रेयस है और यही इस गीताशास्त्रका प्रयोजन बताया गया है ॥ २ ॥ भगवान् विष्णुका वह परमपद सच्चिदानन्द-स्वरूप और पूर्ण है तथा उसीकी प्राप्तिके लिए तीन काण्डोंवाले वेदोंका आरम्भ हुआ है ॥३॥**

---

गुह्य या गोप्य । कुछ आचार्य अपने साम्प्रदायिक गोप्य रहस्योंका उद्घाटन जन-साधारणमें नहीं करना चाहते थे, किन्तु परम कारुणिक आचार्य मधुसूदनसरस्वतीने जनता-जनार्दनके समक्ष अपना हृदय पूर्णतया खोलकर रख दिया है ।

१. कुमारिल भट्टने कहा है—

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वाऽपि कस्यचित् । यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत् केन गृह्यते ॥

अर्थात् जबतक किसी शास्त्र या कर्मका प्रयोजन न बताया जाय, तबतक वह उपादेय नहीं होता । अतः गीताशास्त्रका प्रयोजन इस श्लोकमें बता दिया गया—सहेतुक संसारका अत्यन्त उपरम दुःखकी निवृत्ति ( मोक्ष ) है । अज्ञान और अज्ञानका कार्य-संसार दुःख कहा जाता है । कारण ( अज्ञान ) और कार्य ( संसार )—दोनोंकी निवृत्ति अभीष्ट है । इसी अर्थको शास्त्रकार सकार्य अज्ञानकी निवृत्ति या सहेतुक संसारकी निवृत्ति—इन दो प्रकारके शब्दोंसे कहते हैं । यहाँ सहेतुक संसारकी निवृत्ति—इस रूपसे कहनेका आशय यह है कि संसार ( जन्म-मरण-प्रवाह ) साक्षात् दुःखरूपसे अनुभूत होता है, अतः मुख्यतया इस ( संसार ) की निवृत्ति ही वाञ्छनीय है । हाँ, इसकी आत्यन्तिक निवृत्तिके लिए इसके कारण ( अज्ञान ) की निवृत्ति भी अभिलषित है । समूल संसार वृक्षका उच्छेद गीता शास्त्रकी अद्भुत देन है ।

'आत्यन्तिक' शब्दका अर्थ श्रीवाचस्पतिके शब्दोंमें 'निवृत्तस्य पुनरनुत्पादः' है । अर्थात् औषधोपचारसे ज्वर आदिकी निवृत्ति होती है, किन्तु यह निवृत्ति आत्यन्तिक नहीं, क्योंकि एक बार निवृत्त ज्वर फिर भी हो जाता है । सदाके लिए किसी पदार्थकी निवृत्तिको आत्यन्तिक निवृत्ति कहते हैं । यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि अज्ञान-सहित संसारकी निवृत्ति क्या अनात्यन्तिक भी होती है, जिसकी निवृत्तिके लिए आत्यन्तिक विशेषण दिया ? संसार वृक्षकी जड़ यदि शेष रह जाती, ऊपरसे ही इसका छेदन किया जाता, तब अवश्य इसका फिर हरा-भरा हो जाना सम्भावित था, किन्तु जब यह जड़से ही उखड़ गया, तब इसके फिर पनपनेकी सम्भावना कहाँ ? अतः समूल संसारकी निवृत्तिको आत्यन्तिक ही मानना होगा, फिर अत्यन्त विशेषणकी सार्थकता क्या ? इसका समाधान यह है कि 'अत्यन्त' विशेषणके प्रभाव से ही 'हेतु' पदसे मूलाज्ञानका ग्रहण होता है, अन्यथा अवस्थाज्ञान-सहित संसारकी उपरति भी ले सकते थे, जो कि आत्यन्तिक नहीं । वस्तुतः 'अत्यन्त' पद स्पष्टार्थक ही है ।

२. मोक्षका पूर्ण स्वरूप है—'दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति । प्रथम अंशका उल्लेख गत श्लोकमें करके अवशिष्ट ( परमानन्द-प्राप्ति ) अंशका निरूपण इस ( तीसरे ) श्लोकसे प्रस्तुत किया गया है । सत् = तीनों कालोंमें अबाधित, चित्=ज्ञानस्वरूप, आनन्द=परमानन्द रूप विष्णोः परमं पदम् = ब्रह्म का उत्कृष्ट स्वरूप ।

३. यद्यपि मीमांसकगण वेदको अपौरुषेय मानते हैं, उनके मतमें वेदोंका आरम्भ नहीं होता, अतः वेदोंके लिए 'समारब्धाः' कहना संगत नहीं, तथापि वेदान्त-सिद्धान्तमें वेदोंको सादि माना जाता है, जैसा कि शास्त्रयोनित्वाधिकरणमें स्पष्ट है, अतः 'समारब्धाः' कहना अनुचित नहीं ।



कर्मोपासितस्तथा ज्ञानमिति काण्डत्रयं क्रमात् । तद्रूपाष्टादशाध्यायी गीता काण्डत्रयात्मिका ॥ ४ ॥
एकमेकेन षट्केन काण्डमत्रोपलक्षयेत् । कर्मनिष्ठाज्ञाननिष्ठे कथिते प्रथमान्त्ययोः ॥ ५ ॥
यतः समुच्चयो नास्ति तयोरतिविरोधतः । भगवद्भक्तिनिष्ठा तु मध्यमे परिकीर्तिता ॥ ६ ॥
उभयानुगता सा हि सर्वविघ्नापनोदिनी । कर्ममिश्रा च शुद्धा च ज्ञानमिश्रा च सा त्रिधा ॥ ७ ॥
(२) तत्र तु प्रथमे काण्डे कर्मतत्त्यागवर्त्मना । त्वंपदार्थो विशुद्धात्मा सोपपत्तिर्निरूप्यते ॥ ८ ॥
द्वितीये भगवद्भक्तिनिष्ठावर्णनवर्त्मना । भगवान्परमानन्दस्तत्पदार्थोऽवधार्यते ॥ ९ ॥
तृतीये तु तयोरैक्यं वाक्यार्थो वर्ण्यते स्फुटम् । एवमप्यत्र काण्डानां संबन्धोऽस्ति परस्परम् ॥ १० ॥
प्रत्यध्यायं विशेषस्तु तत्र तत्रैव वक्ष्यते । मुक्तिसाधनपर्वेदं शास्त्रार्थत्वेन कथ्यते ॥ ११ ॥

**कर्म, उपासना और ज्ञान—ये क्रमशः तीन काण्ड हैं । गीता भी अपने अठारह अध्यायोंके द्वारा इन तीन काण्डोंवाली ही है ॥ ४ ॥ अपने छः छः अध्यायोंसे वह एक-एक काण्डको लक्षित करती है । इस प्रकार उसके प्रथम और अन्तिम षट्कमें तो कर्म और ज्ञानका निरूपण हुआ है, क्योंकि इनका परस्पर अत्यन्त विरोध होनेके कारण समुच्चय नहीं हो सकता; तथा मध्यम षट्कमें भगवान्के प्रति भक्तिनिष्ठाका वर्णन किया गया है ॥ ५-६ ॥ यह ( भक्ति ) कर्म और ज्ञान दोनों ही में अनुगत, सब प्रकारके विघ्नोंकी निवृत्ति करनेवाली तथा कर्ममिश्रा, शुद्धा और ज्ञानमिश्रा भेदसे तीन प्रकारकी है ॥**

**(२) यहां पहले काण्डमें तो कर्म और कर्मसंन्यासके द्वारा युक्तिपूर्वक त्वं-पदके अर्थ विशुद्ध आत्माका वर्णन किया गया है; दूसरे काण्डमें भगवद्भक्तिनिष्ठाके निरूपण द्वारा तत्पदके अर्थ परमानन्दस्वरूप भगवान्का निश्चय किया गया है तथा तीसरे काण्डमें**

---

१. कर्म और ज्ञान काण्डोंको व्यवहित ( दूर-दूर ) क्यों रखा ? इस प्रश्नके उत्तरमें कहा गया है कि कर्म और ज्ञानका अत्यन्त विरोध है । कर्मानुष्ठानकी अधिकार-कक्षामें ब्राह्मणत्वादि-का अभिमान निहित है, किन्तु ज्ञानाधिकारमें निषिद्ध; अर्थात् किसी व्यक्तिके अन्तःकरणमें रजोगुण और सत्त्वगुण दोनोंका एक ही समय उद्रेक ( उत्कट भाव ) नहीं हो सकता । रजोगुण-की प्रधानतासे कर्ममें और सत्त्वगुणकी प्रधानतासे ज्ञानोपायमें जीवकी प्रवृत्ति होती है, अतः कर्म और ज्ञानके अधिकारों एवं आधारक्षेत्रोंमें अत्यन्त विरोध होनेके कारण दोनोंका साथ-साथ अनुष्ठान नहीं हो सकता ।

२. वेदान्तग्रन्थोंमें तत्त्वम्पदार्थ-शोधनके दो क्रम देखनेमें आते हैं—कहीं 'तत्त्वमसि' ( छां० ६।८।७ ) इस महावाक्यके पद-पाठ-क्रमसे तत्पदार्थका शोधन पूर्व और त्वम्पदार्थका पश्चात् एवं कहीं 'अहं ब्रह्मास्मि' ( बृह० १।४।१० ) या 'अयमात्मा ब्रह्म' ( माण्डू० २ ) या 'प्रज्ञानं ब्रह्म' ( ऐत० ५।३ ) महावाक्यके पद-पाठ-क्रमसे त्वं पदार्थका शोधन पहले और तत्पदार्थका शोधन पश्चात् किया गया है । यहाँ यही क्रम अपनाया गया है ।

३. इस गीताशास्त्रके अध्यायोंका विशेष प्रतिपाद्य आगे दिखाया ही जायगा । हाँ, यहाँ पूरे गीताशास्त्रके प्रतिपाद्योंको एक दृष्टिमें रखकर कहा जा सकता है कि यह गीता भगवान्की वह मनोहर वंशी है, जिसमें अठारह पर्व ( पोर ) हैं, उन पर्वोंसे मुक्तिके प्रधान अठारह अंग निनादित हो रहे हैं—

(१) केवल निष्काम कर्मोंका अनुष्ठान, (२) विवेक, (३) वैराग्य, (४) षट् सम्पत्, (५) मुमुक्षा, (६) गुरु-शरण-प्राप्ति (७) वेदान्तका श्रवण, (८) मनन, (९) निदिध्यासन, (१०) तत्त्व साक्षात्कार, (११) प्रारब्धकर्म-क्षय, (१२) धारणा, (१३) ध्यान, (१४) सविकल्प समाधि, (१५) निर्वि-कल्प समाधिकी प्रथम भूमि, (१६) निर्विकल्पकी दूसरी भूमि, (१७) निर्विकल्पकी तीसरी भूमि,

निष्कामकर्मानुष्ठानं त्यागात्काम्यनिषिद्धयोः । तत्रापि परमो धर्मो जपस्तुत्यादिकं हरेः ॥ १२ ॥
क्षीणपापस्य चित्तस्य विवेके योग्यता यदा । नित्यानित्यविवेकस्तु जायते सुदृढस्तदा ॥ १३ ॥
इहामुत्रार्थवैराग्यं वशीकाराभिधं क्रमात् । ततः शमादिसंपत्त्या संन्यासे निष्ठितो भवेत् ॥ १४ ॥
एवं सर्वपरित्यागान्मुमुक्षा जायते दृढा । ततो गुरूपसदनमुपदेशग्रहस्ततः ॥ १५ ॥
ततः संदेहहानाय वेदान्तश्रवणादिकम् । सर्वमुत्तरमीमांसाशास्त्रमत्रोपयुज्यते ॥ १६ ॥
ततस्तत्परिपाकेण निदिध्यासननिष्ठता । योगशास्त्रं तु संपूर्णमुपक्षीणं भवेदिह ॥ १७ ॥
क्षीणदोषे ततश्चित्ते वाक्यात्तत्त्वमतिर्भवेत् । साक्षात्कारो निर्विकल्पः शब्दादेर्बोधजायते ॥ १८ ॥
अविद्याविनिवृत्तिस्तु तत्त्वज्ञानोदये भवेत् । तत आवरणे क्षीणे क्षीयेते भ्रमसंशयौ ॥ १९ ॥
अनारब्धानि कर्माणि नश्यन्त्येव समन्ततः । न चाऽऽगामीनि जायन्ते तत्त्वज्ञानप्रभावतः ॥ २० ॥

स्पष्टतया उन दोनोंकी एकता बतलायी गयी है, जो तत्त्वमसि इस महावाक्यका अर्थ है। इस प्रकार भी इन तीनों काण्डोंका आपसमें सम्बन्ध है ॥ ८–१० ॥ इसके सिवा प्रत्येक अध्यायमें जो विशेषता है उसका तो वहीं उल्लेख कर दिया जायगा। यहाँ शास्त्रके तात्पर्यरूपसे यह मुक्तिके साधनोंका पर्व ( क्रम ) बताया जाता है ॥ ११ ॥ काम्य और निषिद्ध कर्मोंका त्याग करके निष्काम कर्मोंका अनुष्ठान सबसे पहला कर्तव्य है। इस अवस्थामें भी भगवान्‌के नामोंका जप और उनकी स्तुति आदि करना परम धर्म है ॥ १२ ॥ इस प्रकार पापोंका क्षय हो जानेपर जब चित्तमें विवेक करनेकी योग्यता आ जाती है तो उसे बड़ी दृढ़तासे नित्य और अनित्य वस्तुओंका भेद भासने लगता है ॥ १३ ॥ फिर क्रमशः सभी लौकिक और अलौकिक विषयोंमें वशीकारसंज्ञक वैराग्य हो जाता है। तब शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरति और तितिक्षा—इस छः प्रकारकी साधनसम्पत्तिसे सम्पन्न होनेके कारण उसकी संन्यासमें निष्ठा होती है ॥ १४ ॥ इस प्रकार सब कुछ त्याग देनेसे उसमें तीव्र मुमुक्षा उत्पन्न होती है। तब वह गुरुकी शरणमें जाता है और उनसे उपदेश ग्रहण करता है ॥ १५ ॥ फिर सन्देहकी निवृत्तिके लिये वह वेदान्तका श्रवण और मनन करता है। सम्पूर्ण उत्तरमीमांसाशास्त्रका उपयोग इस सन्देहनिवृत्तिमें ही है ॥ १६ ॥ इनकी पुष्टि हो जानेपर उसकी निदिध्यासनमें निष्ठा होती है। इसीमें सारे योगशास्त्रकी समाप्ति होती है ॥ १७ ॥ फिर जब चित्तके सब दोष क्षीण हो जाते हैं तो 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्योंसे तत्त्वज्ञान होता है। ब्रह्मतत्त्वका निर्विकल्प साक्षात्कार शब्दसे ही होता है और तत्त्वज्ञानका उदय होनेपर ही अविद्याकी निवृत्ति होती है। तब आवरणका क्षय हो जानेपर इसके सारे भ्रम और सन्देह नष्ट हो जाते हैं ॥ १८–१९ ॥ इसके कर्म जो अभीतक फलोन्मुख नहीं हुए हैं उनका तो सर्वथा नाश ही हो जाता है तथा भविष्यमें होनेवाले कर्मोंका भी तत्त्वज्ञानके प्रभावसे कोई फल नहीं

(१८) मनोनाश और वासना-क्षय। इन तत्त्वोंका प्रतिपादन अध्याय-क्रमसे नहीं है, अपितु पूरे शास्त्रमें यत्र-तत्र किया गया है, अतः इन्हें शास्त्रार्थ कहा है।

१. योगभाष्यमें अपरवैराग्यके चार भेद बताये गये हैं—यतमान, व्यतिरेकी, एकेन्द्रिय और वशीकार। आरम्भिक अवस्थामें जब साधक वस्तुओंका राग छोड़नेका अभ्यास करता है तो उसे यतमान वैराग्य कहते हैं। जब इन्द्रियोंके कुछ विषयोंका आकर्षण समाप्त हो जाय और कुछका बना रहे तो उसे व्यतिरेकी वैराग्य कहते हैं। जब उसकी इन्द्रियोंकी भोगोंमें प्रवृत्ति तो नहीं होती, किन्तु मनमें उनका चिन्तन रह जाता है तो वह वैराग्यकी एकेन्द्रिय भूमिमें माना जाता है और जब मनपर भी उसका पूरा विजय-लाभ हो जाता है तो वह वशीकारसंज्ञक वैराग्यकी भूमिमें पहुँच जाता है।



प्रारब्धकर्मविक्षेपाद्वासना तु न नश्यति । सा सर्वतो बलवता संयमेनोपशाम्यति ॥ २१ ॥
(३) संयमो धारणा ध्यानं समाधिरिति यत्त्रिकम् । यमादिपञ्चकं पूर्वं तदर्थमुपयुज्यते ॥ २२ ॥
ईश्वरप्रणिधानात्तु समाधिः सिध्यति द्रुतम् । ततो भवेन्मनोनाशो वासनाक्षय एव च ॥ २३ ॥
तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय इत्यपि । युगपत्त्रितयाभ्यासाज्जीवन्मुक्तिर्दृढा भवेत् ॥ २४ ॥
विद्वत्संन्यासकथनमेतदर्थं श्रुतौ कृतम् । प्रागसिद्धो य एवांशो यत्नः स्यात्तस्य साधने ॥ २५ ॥
(४) निरुद्धे चेतसि पुरा सविकल्पसमाधिना । निर्विकल्पसमाधिस्तु भवेदत्र त्रिभूमिकः ॥ २६ ॥
व्युत्तिष्ठते स्वतस्त्वाद्ये द्वितीये परबोधितः । अन्त्ये व्युत्तिष्ठते नैव सदा भवति तन्मयः ॥ २७ ॥
एवंभूतो ब्राह्मणः स्याद्वरिष्ठो ब्रह्मवादिनाम् । गुणातीतः स्थितप्रज्ञो विष्णुभक्तश्च कथ्यते ॥ २८ ॥
अतिवर्णाश्रमी जीवन्मुक्त आत्मरतिस्तथा । एतस्य कृतकृत्यत्वाच्छास्त्रमस्मान्निवर्तते ॥ २९ ॥
(५) यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैतेऽकथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ ३० ॥
इत्यादिश्रुतिमानेन कायेन मनसा गिरा । सर्वावस्थासु भगवद्भक्तिरत्रोपयुज्यते ॥ ३१ ॥
पूर्वभूमौ कृता भक्तिरुत्तरां भूमिमानयेत् । अन्यथा विघ्नबाहुल्यात्फलसिद्धिः सुदुर्लभा ॥ ३२ ॥

होता ॥ २० ॥ किन्तु प्रारब्ध कर्मरूप विक्षेपसे वासनाका नाश नहीं होता, उसकी निवृत्ति संयमसे ही होती है, जो कि सब साधनोंकी अपेक्षा अधिक बलवान् है ॥ २१ ॥

( ३ ) धारणा, ध्यान और समाधि—ये तीनों संयम कहलाते हैं। इनसे पहले यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार ये पाँच योगाङ्ग भी उन्हींके लिये उपयोगी हैं ॥ २२ ॥ ईश्वरप्रणिधानसे भी बहुत शीघ्र समाधि सिद्ध हो जाती है और उससे मनोनाश एवं वासनाक्षय भी हो जाते हैं ॥ २३ ॥ इस प्रकार तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय—इन तीनोंका एक साथ अभ्यास करनेसे जीवन्मुक्तिकी पुष्टि होती है ॥ २४ ॥ इसीके लिये श्रुतिमें विद्वत्संन्यासका निरूपण किया गया है। इनमेंसे जिस अंशकी पहले सिद्धि नहीं होती उसीको सिद्ध करनेके लिये यत्न किया जाता है ॥ २५ ॥

( ४ ) जिसका चित्त पहले सविकल्प समाधिसे निरुद्ध हो चुका है उसे ही निर्विकल्प समाधि होती है। उसकी तीन भूमिकाएँ हैं ॥ २६ ॥ प्रथम भूमिकामें योगी स्वयं व्युत्थित हो जाता है, दूसरी भूमिकामें दूसरेके प्रयत्नसे व्युत्थित होता है और तीसरी भूमिकामें व्युत्थित ही नहीं होता, सर्वदा तन्मय ही रहता है ॥ २७ ॥ ऐसा ब्रह्मवेत्ता समस्त ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ माना गया है। वही गुणातीत, स्थितप्रज्ञ और विष्णुभक्त कहा जाता है ॥ २८ ॥ वह वर्णाश्रमसे अतीत, जीवन्मुक्त और आत्मामें ही रमण करनेवाला होता है। उसे जो करना था वह कर चुका, इसलिये अब शास्त्र भी उससे अपना अधिकार हटा लेता है ॥ २९ ॥

( ५ ) श्रुति कहती है कि जिसकी भगवान्‌में परा भक्ति है और जैसी भगवान्‌में है वैसी ही गुरुदेवमें भी है, उस महात्माको उपदेश न करनेपर भी इन अर्थोंका प्रकाश होता है ॥ ३० ॥ इस श्रुतिप्रमाणके अनुसार तत्त्वज्ञानकी उपलब्धिमें सब अवस्थाओंमें तन, मन और वचनसे भगवान्‌की भक्ति ही अधिक उपयोगी है ॥ ३१ ॥ पहली भूमिकामें की हुई भक्ति ही आगेकी भूमिकाको लाती है; नहीं तो, अनेक प्रकारके विघ्न होनेके

१. ज्ञानवान्‌का संन्यास लेना ज्ञानका कारण नहीं हो सकता, क्योंकि उसे ज्ञान पहले ही हो जा चुका है। हाँ, उस ज्ञानवान्‌को प्रारब्धकर्मरूप विक्षेपके कारण जीवन्मुक्तिका विलक्षण आनन्द प्राप्त नहीं होता, उसके लिये वह संन्यास-ग्रहण करता है।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः । अनेकजन्मसंसिद्ध इत्यादि च वचो हरेः ॥ ३३ ॥
(६) यदि प्राग्भवसंस्कारस्याचिन्त्यत्वात्तु कश्चन । प्रागेव कृतकृत्यः स्यादाकाशफलपातवत् ॥ ३४ ॥
न तं प्रति कृतार्थत्वाच्छास्त्रमारब्धुमिष्यते । प्राक्सिद्धसाधनाभ्यासाद् दुर्ज्ञेया भगवत्कृपा ॥ ३५ ॥
एवं प्राग्भूमिसिद्धावप्युत्तरोत्तरभूमये । विधेया भगवद्भक्तिस्तां विना सा न सिध्यति ॥ ३६ ॥
जीवन्मुक्तिदशायां तु न भक्तेः फलकल्पना । अद्वेष्टृत्वादिवत्तेषां स्वभावो भजनं हरेः ॥ ३७ ॥
आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे । कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥ ३८ ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते । इत्यादिवचनाच्चेमभक्तोऽयं मुख्य उच्यते ॥ ३९ ॥
एतत्सर्वं भगवता गीताशास्त्रे प्रकाशितम् । अतो व्याख्यातुमेतन्मे मन उत्सहते भृशम् ॥ ४० ॥
(७) निष्कामकर्मानुष्ठानं मूलं मोक्षस्य कीर्तितम् । शोकादिरासुरः पाप्मा तस्य च प्रतिबन्धकः ॥ ४१ ॥
यतः स्वधर्मविभ्रंशः प्रतिषिद्धस्य सेवनम् । फलाभिसंधिपूर्वा वा साहंकारा क्रिया भवेत् ॥ ४२ ॥
आविष्टः पुरुषो नित्यमेवमासुरपाप्मभिः । पुमर्थलाभायोग्यः सँल्लभते दुःखसंततिम् ॥ ४३ ॥
दुःखं स्वभावतो द्वेष्यं सर्वेषां प्राणिनामिह । अतस्तत्साधनं त्याज्यं शोकमोहादिकं सदा ॥ ४४ ॥

कारण फलकी प्राप्ति होनी बड़ी ही कठिन है ॥ ३२ ॥ इस विषयमें 'पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः'—"वह योगभ्रष्ट अपने उस पूर्वजन्मके अभ्याससे ही इच्छा न होनेपर भी भोगवासनाओंसे निकालकर मोक्षके साधनोंमें लगा दिया जाता है", ( गी० ६।४४ ) 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्'—"इस प्रकार अनेक जन्मोंमें पूर्ण सिद्धि प्राप्त करके फिर वह परम गति प्राप्त करता है" (गी० ६।४५) इत्यादि भगवान्‌के भी वचन हैं ॥३३॥

( ६ ) पूर्वजन्मके संस्कारोंकी गति अचिन्त्य होती है; इसलिये यदि काकतालीय न्यायके अनुसार आकाशसे फल गिरनेके समान कोई पुरुष आरम्भसे ही कृतकृत्य हो तो उसपर भी किसी प्रकारका शासन करना शास्त्रको अभीष्ट नहीं है, क्योंकि अपने पूर्वसिद्ध साधनोंके अभ्याससे वह भी कृतार्थ हो चुका है। भगवत्कृपाका रहस्य जानना बड़ा ही कठिन है ॥ ३४-३५ ॥ इस प्रकार जो पूर्व भूमिकाको सिद्ध कर चुके हैं उन्हें भी आगेकी भूमिकाको सिद्ध करनेके लिये भगवान्‌की भक्ति करनी चाहिये, क्योंकि भगवद्भक्तिके बिना वह सिद्ध नहीं हो सकती ॥ ३६ ॥ किन्तु जीवन्मुक्तिकी अवस्थामें भक्तिसे किसी फलकी कल्पना नहीं की जाती। जीवन्मुक्तोंका तो अद्वेष्टृत्वादि गुणोंके समान भगवान्‌का भजन करना भी स्वभाव ही होता है ॥ ३७ ॥ जो मुनि केवल आत्मामें ही रमण करते हैं और जिनकी अविद्यारूपा ग्रन्थि कट गयी है वे भी भगवान्‌की अहैतुकी भक्ति करते हैं, क्योंकि भगवान् हैं ही ऐसे अद्भुत गुणोंसे सम्पन्न ॥ ३८ ॥ 'अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी इन चार प्रकारके भक्तोंमें नित्ययुक्त और अनन्य भक्ति करनेवाला ज्ञानी ही श्रेष्ठ है' इत्यादि वाक्यसे भी यह प्रेमा-भक्तिवाला जीवन्मुक्त ही मुख्य भक्त बताया गया है ॥ ३९ ॥ इस गीताशास्त्रमें भगवान्‌ने इन सब रहस्योंको प्रकट किया है; इसीसे मेरे मनमें इसकी व्याख्या करनेका बड़ा उत्साह हो रहा है ॥ ४० ॥

( ७ ) मोक्षका मूल निष्काम कर्मोंका अनुष्ठान बताया गया है तथा उसका प्रतिबन्धक शोकादि पापमय आसुरी सम्पद् है, जिससे कि स्वधर्मसे पतन, प्रतिषिद्ध वस्तुओंका सेवन और फलकी इच्छासे अहंकारपूर्वक कर्ममें प्रवृत्ति होती है ॥ ४१-४२ ॥ इस प्रकार सर्वदा आसुरी पापके पक्षमें पड़कर पुरुष पुरुषार्थ-प्राप्तिके अयोग्य हो जाता है तथा दुःखपरम्परामें पड़ा रहता है ॥ ४३ ॥ दुःखसे तो इस लोकमें स्वभावसे ही सब प्राणी द्वेष करते हैं; अतः उसके साधन शोक-मोहादिको सदा ही त्यागना चाहिये



अनादिभवसंताननिरूढं दुःखकारणम् । दुस्त्यजं शोकमोहादि केनोपायेन हीयताम् ॥ ४५ ॥
एवमाकाङ्क्ष्याऽऽविष्टं पुरुषार्थोन्मुखं नरम् । बुबोधयिषुराहेदं भगवाञ्शास्त्रमुत्तमम् ॥ ४६ ॥

(८) तत्राशोच्यानन्वशोचस्त्वमित्यादिना शोकमोहादिसर्वासुरपाप्मनिवृत्युपायोपदेशेन स्वधर्मानुष्ठानात्पुरुषार्थः प्राप्यतामिति भगवदुपदेशः सर्वसाधारणः । भगवदर्जुनसंवादरूपा चाऽऽख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था जनकयाज्ञवल्क्यसंवादादिवदुपनिषत्सु । कथं ? प्रसिद्धमहानुभावोऽप्यर्जुनो राज्यगुरुपुत्रमित्रादिष्वहमेषां ममेत इत्येवंप्रत्ययनिमित्तस्नेहनिमित्ताभ्यां शोकमोहाभ्यामभिभूतविवेकविज्ञानः स्वत एव क्षत्रधर्मे युद्धे प्रवृत्तोऽपि तस्मायुद्धादुपरराम परधर्मं च भिक्षाजीवनादि क्षत्रियं प्रति प्रतिषिद्धं कर्तुं प्रववृते । तथा च महत्यनर्थे मग्नोऽभूत् । भगवदुपदेशाच्चेमां विद्यां लब्ध्वा शोकमोहावपनीय पुनः स्वधर्मे प्रवृत्तः कृतकृत्यो बभूवेति प्रशस्ततरेयं महाप्रयोजना विद्येति स्तूयते ।

(९) अर्जुनापदेशेन चोपदेशाधिकारी दर्शितः । तथा च व्याख्यास्यते । स्वधर्मप्रवृत्तौ जातायामपि तत्प्रच्युतिहेतुभूतौ शोकमोहौ 'कथं भीष्ममहं संख्ये' इत्यादिनाऽर्जुने दर्शितौ । अर्जुनस्य युद्धाख्ये स्वधर्मे विनाऽपि विवेकं किंनिमित्ता प्रवृत्तिरिति दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकमित्यादिना परसैन्यचेष्टितं तन्निमित्तमुक्तम् । तदुपोद्घातत्वेन धृतराष्ट्रप्रश्नः संजयं प्रति धर्मक्षेत्रे इत्यादिना श्लोकेन ।

॥ ४४ ॥ जो पुरुष अपने परम पुरुषार्थकी ओर प्रवृत्त हो गया है उसे यह आकांक्षा होती है कि इन शोक-मोहादिका, जो अनादि-जन्मपरम्परागत संस्कारोंसे सुदृढ़, समस्त दुःखोंके कारण और अत्यन्त दुस्त्यज हैं, किस उपायसे नाश हो ? उसीको समझानेके लिये भगवान्‌ने इस श्रेष्ठ शास्त्रका उपदेश किया है ॥ ४५-४६ ॥

( ८ ) इस शास्त्रमें 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं' ( २।११ ) इत्यादि वाक्यसे भगवान्‌ने शोक-मोहादि सम्पूर्ण आसुरी पापोंकी निवृत्तिके उपायोंका उपदेश करके यह सर्वजनीन आदेश दिया है कि अपने-अपने वर्णाश्रम-धर्मोंका अनुष्ठान करते हुए परमपुरुषार्थकी प्राप्ति करो। उपनिषदोंमें जिस प्रकार जनक-याज्ञवल्क्यसंवाद आदि आख्यायिकाएँ हैं उसी प्रकार यह श्रीभगवान् और अर्जुनका संवादरूप आख्यान ब्रह्मविद्याकी स्तुतिके लिये है। सो किस प्रकार ?—अर्जुन अपने महान् पराक्रमके लिये प्रसिद्ध था, तो भी उसका विवेक-विज्ञान राज्य, गुरु, पुत्र और मित्रादिमें 'मैं इनका हूँ और ये मेरे हैं' इस प्रकारके ज्ञानसे उत्पन्न हुए स्नेहके कारण शोक और मोहसे दब गया। वह अपने क्षात्रधर्म युद्धमें प्रवृत्त होनेपर भी स्वयं ही उससे निवृत्त हो गया और क्षत्रियके लिये वर्जित जो भिक्षाटनादि परधर्म हैं, उन्हें करनेके लिये तैयार हो गया। इस प्रकार इस महान् अनर्थमें डूब जानेपर भी वह श्रीभगवान्‌के उपदेशसे इस विद्याको प्राप्त करके शोक-मोहसे पार होकर फिर स्वधर्ममें प्रवृत्त और कृतकृत्य हो गया—यह सब दिखलाकर इस विद्याकी 'यह अत्यन्त प्रशंसनीय और महान् प्रयोजनवाली है' इस प्रकार स्तुति ही की जाती है।

( ९ ) अर्जुनको उपदेश करनेके मिषसे उपदेशका अधिकारी दिखाया गया है। इसी प्रकार ( अठारहवें अध्यायमें ) अधिकारीकी व्याख्या भी की जायगी। अर्जुन स्वधर्ममें प्रवृत्त होनेवाला था तो भी उससे च्युत हो गया—इसके हेतुभूत शोक और मोह उसने 'कथं भीष्ममहं संख्ये' ( २।४ ) इत्यादि वाक्यसे प्रदर्शित किये हैं। विवेक न होनेपर भी अर्जुनकी अपने धर्मयुद्धमें क्यों प्रवृत्ति हुई इसका कारण 'दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकम्' ( १।२ ) इत्यादि श्लोकोंसे शत्रुकी सेनाका व्यापार ही दिखाया गया है। इसके उपोद्घात रूपसे 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' इत्यादि श्लोकसे धृतराष्ट्र सञ्जयसे प्रश्न करता है।

धृतराष्ट्र उवाच—

**धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।**
**मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥**

[ धृतराष्ट्र ने कहा—सञ्जय ! धर्मक्षेत्रमें युद्धके लिये उत्सुक होकर एकत्र हुए मेरे पुत्र और पाण्डवोंने क्या किया ॥ १ ॥ ]

(१०) तत्र धृतराष्ट्र उवाचेति वैशम्पायनवाक्यं जनमेजयं प्रति । पाण्डवानां जयकारणं बहुविधं पूर्वमाकर्ण्य स्वपुत्रराज्यभ्रंशाद्भीतो धृतराष्ट्रः पप्रच्छ स्वपुत्रजयकारणमाशंसन्—

(११) युयुत्सवो योद्धुमिच्छवोऽपि सन्तः कुरुक्षेत्रे समवेताः संगता मामका मदीया दुर्योधनादयः पाण्डवाश्च युधिष्ठिरादयः किमकुर्वत किं कृतवन्तः ? किं पूर्वोद्भूतयुयुत्सानुसारेण युद्धमेव कृतवन्त उत केनचिन्निमित्तेन युयुत्सानिवृत्त्याऽन्यदेव किंचित्कृतवन्तः ?

(१२) भीष्मार्जुनादिवीरपुरुषनिमित्तं दृष्टभयं युयुत्सानिवृत्तिकारणं प्रसिद्धमेव । अदृष्टभयमपि दर्शयितुमाह—धर्मक्षेत्र इति । धर्मस्य पूर्वमविद्यमानस्योत्पत्तेर्विद्यमानस्य च वृद्धेर्निमित्तं सस्यस्येव क्षेत्रं यत्कुरुक्षेत्रं सर्वश्रुतिस्मृतिप्रसिद्धम् । बृहस्पतिरुवाच याज्ञवल्क्यं 'यदनुकुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्' इति जाबालश्रुतेः, 'कुरुक्षेत्रं वै देवयजनम्' इति शतपथश्रुतेश्च । तस्मिन्नाताः पाण्डवाः पूर्वमेव धार्मिका यदि पक्षद्वयहिंसानिमित्तादधर्माद्भीता निवर्तेरंस्ततः प्राप्तराज्या एव मत्पुत्राः । अथवा धर्मक्षेत्रमाहात्म्येन पापानामपि मत्पुत्राणां कदाचिच्चित्तप्रसादः स्यात्तदा च तेऽनुतप्ताः कपटोपात्तं राज्यं पाण्डवेभ्यो यदि दद्युस्तर्हि विनाऽपि युद्धं हता एवेति स्वपुत्रराज्यलाभे पाण्डवराज्यालाभे च दृढत-

(१०) यहाँ 'धृतराष्ट्र उवाच—'यह जनमेजयके प्रति वैशम्पायनजीका वाक्य है । पहले पाण्डवोंकी जयके अनेक कारण सुनकर अपने पुत्रोंके राज्यभ्रष्ट होनेसे डरकर धृतराष्ट्रने उन्हींकी जयका कोई कारण सुननेकी आशासे पूछा ।

(११) पहलेसे युयुत्सु—युद्धके लिये उत्सुक होनेपर भी जो कुरुक्षेत्रमें समवेत एकत्र हुए हैं, उन दुर्योधनादि मेरे पुत्रोंने और युधिष्ठिरादि पाण्डवोंने क्या किया अर्थात् कौन काम किया ? उन्होंने पहलेसे उत्पन्न हुई अपनी युद्धलिप्साके अनुसार युद्ध ही किया ? अथवा किसी कारणवश उसके निवृत्त हो जानेसे कोई और काम किया ?

(१२) भीष्म और अर्जुन आदि वीर पुरुषोंके कारण जो दोनों पक्षोंके लिये दृष्ट भय है वह तो युद्धेच्छाकी निवृत्तिका कारण प्रसिद्ध ही है । इसके सिवा जो अदृष्ट भय है उसे दिखानेके लिये धृतराष्ट्र कहता है—'धर्मक्षेत्रे' इत्यादि । जिस प्रकार अन्नकी उत्पत्ति और वृद्धिका कारण क्षेत्र ( खेत ) होता है वैसे ही कुरुक्षेत्र पहलेसे अविद्यमान धर्मकी उत्पत्तिका और विद्यमान धर्मकी वृद्धिका कारण है—यह सभी श्रुति और स्मृतियोंमें प्रसिद्ध है । जाबालश्रुतिमें याज्ञवल्क्यजीसे बृहस्पतिजी कहते हैं—'यह जो कुरुक्षेत्र है वह देवताओंकी यज्ञभूमि है और समस्त जीवोंको ब्रह्मकी प्राप्ति करानेवाला स्थान है ।' शतपथश्रुतिमें कहा है—'कुरुक्षेत्र देवताओंकी यज्ञभूमि है ।' पाण्डवलोग तो पहलेसे ही धार्मिक हैं । उस भूमिमें जाकर यदि दोनों पक्षोंकी हिंसाके कारण अधर्मसे डरकर वे युद्धसे निवृत्त हो जायँ तो मेरे पुत्रोंको तो राज्य मिला ही हुआ है । अथवा पापी होनेपर भी यदि कहीं उस धर्मक्षेत्रके प्रभावसे मेरे पुत्रोंका चित्त शुद्ध हो जाय और वे पश्चात्तापपूर्वक पाण्डवोंको पहले कपटसे लिया हुआ उनका राज्य लौटा दें तो वे तो एक प्रकारसे बिना युद्धके ही मर जायँगे । इस प्रकार धृतराष्ट्रको अपने पुत्रोंको राज्य मिलने और



रनुपायमपश्यतो महानुद्वेग एव प्रश्नबीजम् ।

(१) संजयेति च संबोधनं रागद्वेषादिदोषान्सम्यग्जितवानसीति कृत्वा निर्व्याजमेव कथनीयं त्वयेति सूचनार्थम् । मामकाः किमकुर्वतेत्येतावतैव प्रश्ननिर्वाहे पाण्डवाश्चेति पृथङ्निर्देश्य पाण्डवेषु ममकारिभावप्रदर्शनेन तद्द्रोहमभिव्यनक्ति ॥ १ ॥

(२) एवं कृपालोकव्यवहारनेत्राभ्यामपि हीनतया महतोऽन्धस्य पुत्रस्नेहमात्राभिनिविष्टस्य धृतराष्ट्रस्य प्रश्ने विदिताभिप्रायस्य सञ्जयस्यातिधार्मिकस्य प्रतिवचनमवतारयति वैशम्पायनः—

संजय उवाच—

**दृष्ट्वा तु पांडवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।**
**आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥**

(३) तत्र पाण्डवानां दृष्टभयसंभावनाऽपि नास्ति अदृष्टभयं तु भ्रान्त्याऽर्जुनस्योत्पन्नं भगवतोपशमितमिति पाण्डवानामुत्कर्षस्तुशब्देन द्योत्यते । स्वपुत्रकृतराज्यप्रत्यर्पणशङ्क्या तु मा ग्लासीरिति राजानं तोषयितुं दुर्योधनदौष्टयमेव प्रथमतो वर्णयति—दृष्ट्वेति ।

(४) पाण्डुसुतानामनीकं सैन्यं व्यूढं व्यूहरचनया धृष्टद्युम्नादिभिः स्थापितं दृष्ट्वा चाक्षुषज्ञानविषयीकृत्य तदा सङ्ग्रामोद्यमकाले आचार्यं द्रोणनामानं धनुर्विद्यासंप्रदायप्रवर्तयितारमुपसंगम्य

पाण्डवोंको न मिलनेका कोई पक्का उपाय नहीं सूझ रहा था । इससे जो उसे महान् उद्वेग था वही इस प्रश्नका बीज है ।

(१) 'सञ्जय' यह सम्बोधन इस बातको सूचित करनेके लिये है कि तुमने राग-द्वेष आदि दोषोंको सम्यक् प्रकारसे जीत लिया है, इसलिये तुम्हें किसी प्रकारका कपट न रखकर ही उत्तर देना चाहिए । यहाँ प्रश्नका निर्वाह तो 'मामकाः किमकुर्वत' ( मेरे पुत्रोंने क्या किया ) इतने हीसे हो सकता था; [ क्योंकि पाण्डव भी तो धृतराष्ट्रके आत्मीय ही हैं ] । फिर भी 'पाण्डवाश्च' ( और पाण्डवोंने ) ऐसा जो अलग निर्देश किया है वह पाण्डवोंके प्रति धृतराष्ट्रका अपनेपनका अभाव दिखलाकर उनसे द्रोह प्रकट करता है ।

(२) इस प्रकार कृपा और लोकव्यवहार इन दोनों ही नेत्रोंसे हीन होनेके कारण जो पूरा अन्धा और अपने पुत्रोंकी ममतामें फँसा हुआ था, उस धृतराष्ट्रके प्रश्नसे उसका अभिप्राय समझकर परम धार्मिक सञ्जयने जो उत्तर दिया उसे वैशम्पायनजी इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

[ श्लोकार्थः—सञ्जयने कहा—तब पाण्डवोंकी सेनाकी व्यूहरचना हुई देख राजा दुर्योधनने आचार्य द्रोणके पास जाकर यह वचन कहा ॥ २ ॥ ]

(३) इस युद्धमें पाण्डवोंको दृष्ट भयकी सम्भावना भी नहीं है; हाँ, भ्रान्तिवश अर्जुन को अदृष्ट भय तो उत्पन्न हुआ था, सो उसे भगवान्‌ने शान्त कर दिया—इस प्रकार 'तु' शब्दसे पाण्डवों का उत्कर्ष दिखाया गया है । 'मेरे पुत्र पाण्डवोंको राज्य सौंप देंगे' ऐसी आशंका करके आप खेद न करें—इस प्रकार राजा धृतराष्ट्रको धैर्य बँधानेके लिये सञ्जय 'दृष्ट्वा' इत्यादि श्लोकसे पहले दुर्योधनकी दुष्टताका ही वर्णन करता है ।

(४) पाण्डुपुत्रोंकी अनीक=सेनाको व्यूढ=धृष्टद्युम्नादिके द्वारा व्यूहरचनाकी पद्धतिसे सजायी हुई देख अर्थात् नेत्रजनित ज्ञानसे अनुभव कर तब=संग्रामकी तैयारी करते समय दुर्योधनने आचार्य=धनुर्विद्याके सम्प्रदायका विस्तार करनेवाले द्रोणनामक

स्वयमेव तत्समीपं गत्वा न तु स्वसमीपे तमाहूय । एतेन पाण्डवसैन्यदर्शनजनितं भयं सूच्यते । भयेन स्वरक्षार्थं तत्समीपगमनेऽपि आचार्यगौरवव्याजेन भयसंगोपनं राजनीतिकुशलत्वादित्याह—राजेति ।

(१) आचार्यं दुर्योधनोऽब्रवीदित्येतावतैव निर्वाहे वचनपदं संक्षिप्तवद्ब्रूर्थत्वादित्रहुगुणविशिष्टे वाक्यविशेषे संक्रमितुं, वचनमात्रमेवाब्रवीन्न तु कंचिदर्थमिति वा ॥ २ ॥

(२) तदेव वाक्यविशेषरूपं वचनमुदाहरति—पश्यैतामित्यादिना तस्य संजनयन्हर्षमित्यतः प्राक्तनेन । पाण्डवेषु प्रियशिष्येष्वतिस्निग्धहृदयत्वादाचार्यो युद्धं न करिष्यतीति संभाव्य तस्मिन्परेषामवज्ञां विज्ञापयंस्तस्य क्रोधातिशयमुत्पादयितुमाह—

**पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।**
**व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥**

(३) एतामत्यासन्नत्वेन भवद्विधानपि महानुभावानवगणय्य भयशून्यत्वेन स्थितां पाण्डुपुत्राणां चमूं महतीमनेकाक्षौहिणीसहितत्वेन दुर्निवारां पश्यापरोक्षीकुरु प्रार्थनायां लोट् । अहं शिष्यत्वात्त्वामाचार्यं प्रार्थय इत्याह—आचार्येति । दृष्ट्वा च तत्कृतामवज्ञां स्वयमेव ज्ञास्यसीति भावः ।

---

अपने गुरुके पास जा—उन्हें अपने पास बुलाकर नहीं, बल्कि स्वयं उनके समीप जाकर उनसे ये वचन कहे। इससे यह सूचित होता है कि पाण्डवोंकी सेना देखकर उसे भय उत्पन्न हुआ। इस प्रकार यद्यपि वह भयसे रक्षाके लिये ही उनके समीप गया था तो भी राजनीतिमें कुशल होनेके कारण आचार्यका गौरव रखनेके मिषसे उसने उसे छिपा लिया। इसीलिये उसे 'राजा' कहा गया है।

( १ ) यहाँ 'दुर्योधनने आचार्यसे कहा' केवल इतनेसे ही काम चल सकता था, तथापि यह जतानेके लिये कि उसका वाक्य संक्षिप्तत्व और अनेकार्थत्व आदि प्रचुर गुणोंसे युक्त था 'वचन' पद रखा गया है। अथवा इसका यह भी तात्पर्य हो सकता है कि उसने केवल वचन ही कहा, अर्थ कुछ भी नहीं कहा ॥ २ ॥

( २ ) 'पश्यैताम्' इत्यादि श्लोकसे लेकर 'तस्य सञ्जनयन् हर्षम्' इत्यादि श्लोकसे पहले पहले वह दुर्योधनका वाक्य विशेषरूप वचन ही दिया गया है। अपने प्रिय शिष्य पाण्डवोंके प्रति अत्यन्त स्नेह होनेके कारण आचार्य युद्ध नहीं करेंगे—ऐसी सम्भावनासे यह सूचित करके कि शत्रुओंकी आपके प्रति बड़ी अवज्ञा है, उन्हें अत्यन्त क्रोध उत्पन्न करनेके लिये दुर्योधन कहता है—

[ श्लोकार्थः—आचार्य ! अपने बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र ( धृष्टद्युम्न ) द्वारा व्यूहरचना करके सजायी हुई पाण्डवोंकी यह महती सेना देखिये ॥ ३ ॥ ]

( ३ ) आप-जैसे महानुभावोंकी भी उपेक्षा करके निर्भीकतापूर्वक खड़ी हुई पाण्डुपुत्रोंकी इस अतिसमीपवर्तिनी चमू=सेनाको, जो महती=अनेकों अक्षौहिणी सहित होनेके कारण बड़ी कठिनतासे हटायी जा सकती है, आप देखिये=प्रत्यक्ष अवलोकन कीजिये। 'पश्य' इस क्रिया पदमें प्रार्थनार्थक लोट् लकार है। मैं शिष्य होनेके नाते आप गुरुदेवसे प्रार्थना करता हूँ—यह सूचित करनेके लिये 'आचार्य'—ऐसा सम्बोधन करके कहता है। तात्पर्य यह है कि इसे देखकर आप स्वयं ही उन लोगोंकी की हुई अवज्ञाको जान लेंगे।



(१) ननु तदीयावज्ञा सोढव्यैवास्माभिः प्रतिकर्तुमशक्यत्वादित्याशङ्क्य तन्निरसनं तव सुकरमेवेत्याह—व्यूढां तव शिष्येणेति । शिष्यापेक्षया गुरोराधिक्यं सर्वसिद्धमेव । व्यूढां तु धृष्टद्युम्नेनेत्यनुक्त्वा द्रुपदपुत्रेणेतिकथनं द्रुपदपूर्ववैरसूचनेन क्रोधोद्दीपनार्थम् । धीमतेति पदमनुपेक्षणीयत्वसूचनार्थम् । व्यासङ्गान्तरनिराकरणेन त्वरातिशयार्थं पश्येति प्रार्थनम् ।

(२) अन्यच्च हे पाण्डुपुत्राणामाचार्य न तु मम तेषु स्नेहातिशयात् । द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येणेति त्वद्वधार्थमुत्पन्नोऽपि त्वयाऽध्यापित इति तव मौढ्यमेव समानर्थकारणमिति सूचयति । शत्रोस्तव सकाशात्त्वद्वधोपायभूता विद्या गृहीतेति तस्य धीमत्त्वम् । अत एव तद्धमूदर्शनेनाऽऽनन्दस्तवैव भविष्यति भ्रान्तत्वात्, नान्यस्य कस्यचिदपि यं प्रतीयं प्रदर्शनीयेति त्वमेवैतां पश्येत्याचार्यं प्रति तत्सैन्यं प्रदर्शयन्निगूढं द्वेषं द्योतयति । एवं च यस्य धर्मक्षेत्रं प्राप्याऽऽचार्येऽपीदृशी दुष्टबुद्धिस्तस्य काऽनुतापशङ्का सर्वाभिशङ्कित्वेनातिदुष्टाशयत्वादिति भावः ॥ ३ ॥

(३) नन्वेकेन द्रुपदपुत्रेणाप्रसिद्धेनाधिष्ठितां चमूमेतामस्मदीयो यः कश्चिदपि जेष्यति किमिति त्वमुत्ताम्यसीत्यत आह—अत्र शूरा इत्यादिभिस्त्रिभिः ।

---

( १ ) फिर आचार्यकी ओरसे ऐसी आशंका करके कि 'हम लोग पाण्डवोंका सामना करनेमें असमर्थ हैं, इसलिये हमें उनके किये हुए तिरस्कारको सह लेना चाहिये' दुर्योधन यह सूचित करनेके लिये कि उन्हें दबाना आपके लिये सुगम ही है—कहता है—'व्यूढां तव शिष्येण'—इसकी व्यूहरचना आपके शिष्यने की है। शिष्यकी अपेक्षा गुरुकी उत्कृष्टता तो सभीको निश्चित होती है। यहाँ 'धृष्टद्युम्नने व्यूहरचना की है' ऐसा न कहकर जो 'द्रुपदपुत्रेण'='द्रुपदपुत्रने की है'—ऐसा कहा गया है, वह द्रुपदसे आचार्यके पुराने वैरकी सूचना देकर उनका क्रोध भड़कानेके लिये है। 'धीमता' यह पद इस बातको जतानेके लिये है कि धृष्टद्युम्न उपेक्षा करने योग्य नहीं है। 'देखिये' इस प्रकारकी प्रार्थना करनेका उद्देश्य यह है कि और सब कामोंसे चित्त हटाकर बहुत शीघ्र इस ओर ध्यान दीजिये।

( २ ) इसके सिवा यदि 'पाण्डुपुत्राणाम्' का सम्बन्ध 'चमूम्'के साथ न करके 'आचार्य'के साथ किया जाय तो इसका यह तात्पर्य होगा—'हे पाण्डवोंके आचार्य !—मेरे नहीं क्योंकि उन्हींमें आपका अधिक स्नेह है।' 'अपने शिष्य द्रुपदपुत्रके द्वारा' इससे यह ध्वनित होता है कि यद्यपि धृष्टद्युम्न आपके वधके लिये ही उत्पन्न हुआ है तो भी आपने उसे शस्त्रशिक्षा दी—यह आपकी मूर्खता ही आज मेरे अनर्थका कारण हुई है। तथा धृष्टद्युम्नने अपने शत्रुसे भी उसीके वधकी उपायभूता विद्या ग्रहण की—यह उसकी विशेष बुद्धिमत्ता है। अतः भ्रान्त होनेके कारण आपहीको उसकी सेना देखकर आनन्द हो सकता है, और किसीको तो हो नहीं सकता, जिसे हम दिखावें, इसलिये आपही इसे देखिये—इस प्रकार आचार्यको पाण्डवोंकी सेना दिखाकर दुर्योधन अपना छिपा हुआ द्वेष प्रकट कर रहा है। इसका भाव यह है कि धर्मक्षेत्रमें आकर भी जिसकी ऐसी खोटी बुद्धि बनी हुई है, उसे अपने अन्यायके लिये पश्चात्ताप होनेकी क्या आशंका हो सकती है ? क्योंकि सभीकी ओरसे शङ्कित होनेके कारण उसका हृदय तो बहुत ही दूषित है ॥ ३ ॥

( ३ ) यदि द्रोणाचार्य कहें कि द्रुपदपुत्र तो कोई प्रसिद्ध वीर नहीं है, अकेले उसीकी अध्यक्षतामें रहनेवाली इस सेनाको तो हमारे पक्षका कोई भी वीर जीत सकता

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

(१) न केवलमत्र धृष्टद्युम्न एव शूरो येनोपेक्षणीयता स्यात्किं तु अस्यां चम्वामन्येऽपि बहवः शूराः सन्तीत्यवश्यमेव तज्जये यतनीयमित्यभिप्रायः । शूरानेव विशिनष्टि—महेष्वासा इति । महान्तोऽन्यैरप्रधृष्या इष्वासा धनूंषि येषां ते तथा दूरत एव परसैन्यविद्रावणकुशला इति भावः ।

(२) महाधनुरादिमत्त्वेऽपि युद्धकौशलाभावमाशङ्क्याऽऽह—युधि युद्धे भीमार्जुनाभ्यां सर्वसंप्रतिपन्नपराक्रमाभ्यां समास्तुल्याः । तानेवाऽऽह—युयुधान इत्यादिना महारथा इत्यन्तेन ।

(३) युयुधानः सात्यकिः । द्रुपदश्च महारथ इत्येकः । अथवा युयुधानविराटद्रुपदानां विशेषणं महारथ इति । धृष्टकेतुचेकितानकाशिराजानां विशेषणं वीर्यवानिति । पुरुजित्कुन्तिभोजशैब्यानां विशेषणं नरपुङ्गव इति । विक्रान्तो युधामन्युर्वीर्यवांश्चोत्तमौजा इति द्वौ । अथवा सर्वाणि

है, फिर तुम इतना क्यों घबड़ाते हो ? तो दुर्योधन इसके उत्तरमें 'अत्र शूराः' इत्यादि तीन श्लोकोंसे कहता है—

[ श्लोकार्थः—इस सेनामें संग्रामभूमिमें महान् धनुष धारण करनेवाले भीम और अर्जुन जैसे वीर, महारथी सात्यकि, विराट और द्रुपद, महान् पराक्रमी धृष्टकेतु, चेकितान और काशिराज, नरश्रेष्ठ पुरुजित् कुन्तिभोज और शैब्य, विक्रमी युधामन्यु, वीर्यवान् उत्तमौजा, सुभद्रानन्दन अभिमन्यु और द्रौपदीके पुत्र—ये सभी महारथी हैं ॥ ४-६ ॥ ]

( १ ) यहाँ एक धृष्टद्युम्न ही वीर नहीं है कि हम इसे उपेक्षाके योग्य मान लें, बल्कि इस सेनामें और भी बहुतसे शूरवीर हैं, अतः हमें इसे परास्त करनेका प्रयत्न अवश्य ही करना चाहिये—ऐसा इसका तात्पर्य है। 'महेष्वासाः' इस पदसे वह शूरवीरोंकी ही विशेषता बताता है—महान्=दूसरोंके काबूमें न आनेवाले हैं इष्वास=धनुष जिनके ऐसे योद्धा; अर्थात् जो दूरसे ही शत्रुकी सेनाको तितर-बितर कर देनेमें समर्थ हैं ।

( २ ) महान् धनुष आदि आयुधोंसे सम्पन्न होनेपर भी वे युद्ध करनेमें तो कुशल नहीं हैं—ऐसी यदि शंका करो तो दुर्योधन कहता है—वे युद्धमें सर्वसम्मत पराक्रमवाले भीम और अर्जुनके समान=तुल्य हैं। आगे 'युयुधानः' से लेकर 'महारथाः' पर्यन्त ग्रन्थसे उन्हींका वर्णन करता है ।

( ३ ) युयुधान=सात्यकि। 'द्रुपदश्च महारथः' ये दो पद एक ही वीरके द्योतक हैं। अथवा इसका 'महारथः' पद युयुधान, विराट और द्रुपद तीनोंका विशेषण है तथा 'वीर्यवान्' यह पद धृष्टकेतु, चेकितान और काशिराजका विशेषण है। इसी प्रकार पुरुजित्, कुन्तिभोज और शैब्यका विशेषण 'नरपुङ्गव' है। तथा विक्रान्त युधामन्यु और वीर्यवान् उत्तमौजा—ये दो वीर हैं। अथवा इन सभी विशेषणोंको एक साथ सब



विशेषणानि समुच्चित्य सर्वत्र योजनीयानि । सौभद्रोऽभिमन्युः । द्रौपदेयाश्च द्रौपदीपुत्राः 'प्रतिविन्ध्यादयः पञ्च । चकारादन्येऽपि पाण्ड्यराजघटोत्कचप्रभृतयः । पञ्च पाण्डवास्त्वतिप्रसिद्धा एवेति न गणिताः ।

(१) ये गणिताः सप्तदशान्येऽपि तदीयाः सर्व एव महारथाः सर्वेऽपि महारथा एव नैकोऽपि रथोऽर्धरथो वा । महारथा इत्यतिरथत्वस्याप्युपलक्षणम् । तल्लक्षणं च—

'एको दश सहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम् । शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः ॥
अमितान्योधयेद्यस्तु संप्रोक्तोऽतिरथस्तु सः । रथस्त्वेकेन यो योद्धा तन्न्यूनोऽर्धरथः स्मृतः ॥ ४-५-६

(२) यद्येवं परबलमतिप्रभूतं दृष्ट्वा भीतोऽसि हन्त तर्हि संधिरेव परैरिष्यतां किं विग्रहाग्रहेणेत्याचार्याभिप्रायमाशङ्क्याऽऽह—

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ! ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

(३) तुशब्देनान्तरुत्पन्नमपि भयं तिरोदधानो धृष्टतामात्मनो द्योतयति । अस्माकं सर्वेषां मध्ये ये विशिष्टाः सर्वेभ्यः समुत्कर्षंजुषस्तान्मयोच्यमानान्निबोध निश्चयेन मद्वचनादवधारयेति भौवादिकस्य परस्मैपदिनो बुधे रूपम् ।

(४) ये च मम सैन्यस्य नायका मुख्या नेतारस्तान्संज्ञार्थमसंख्येषु तेषु मध्ये कतिचिन्ना-

योद्धाओंके लिये लगाना चाहिये । सौभद्रः=अभिमन्यु और द्रौपदेय=प्रतिविन्ध्य आदि द्रौपदीके पाँच पुत्र । चकारसे पाण्ड्यराज और घटोत्कच आदि अन्य वीर समझने चाहिये । पाँच पाण्डव तो बहुत प्रसिद्ध ही हैं, इसलिये उनकी गणना नहीं की गयी ।

( १ ) यहाँ जो सत्रह वीर गिनाये गये हैं तथा उनके साथ जो और भी बहुतसे वीर हैं वे सभी महारथी हैं अर्थात् सबके सब महारथी ही हैं, उनमें कोई भी रथी या अर्धरथी नहीं हैं । 'महारथी' यह पद उनके अतिरथी होनेकी भी सूचना देता है । इनके लक्षण इस प्रकार हैं—'जो अकेला ही दस हजार धनुर्धर योद्धाओंसे युद्ध करे तथा शस्त्रविद्यामें कुशल हो वह 'महारथी' कहलाता है और जो अगणित योद्धाओंसे लड़े उसे 'अतिरथी' कहते हैं । इसी प्रकार जो केवल एकहजार योद्धाओंसे युद्ध करे वह 'रथी' और जो इससे कम योद्धाओंसे लड़ सके वह 'अर्धरथी' कहलाता है' ॥ ४-६ ॥

( २ ) अब आचार्यका ऐसा अभिप्राय समझकर कि यदि ऐसी बात है, शत्रुकी बहुत विशाल वाहिनीको देखकर तू डर गया है तो उनसे सन्धि करनेका ही विचार कर, व्यर्थ युद्धके आग्रहसे क्या लाभ है—दुर्योधन कहता है—

[ श्लोकार्थः—विप्रवर ! हमारी सेनाके जो विशेष नेता हैं उन्हें भी आप निश्चयपूर्वक जान लीजिये । आपकी जानकारीके लिये मैं उन्हें बताता हूँ ॥ ७ ॥ ]

( ३ ) 'तु' शब्दसे दुर्योधन अपने भीतर उत्पन्न हुए भयको छिपाकर अपनी निर्लज्जता ही प्रकट करता है । हम सबमें जो विशिष्ट—सबकी अपेक्षा उत्कृष्ट हैं उन योद्धाओंका मैं उल्लेख करता हूँ । आप मेरे कहनेसे उन्हें वैसा ही समझें अर्थात् निश्चय करें । 'निबोध' यह 'नि' पूर्वक भ्वादिगण की परस्मैपदी 'बुध्' धातुका रूप है ।

( ४ ) मेरी सेनाके जो नायक=मुख्य नेता हैं उन असंख्योंमें से कुछ वीरोंके

१. प्रतिविन्ध्य, श्रुतसेन, श्रुतकीर्ति, शतानीक और श्रुतकर्मा ।

मभिर्गृहीत्वा परिशिष्टानुपलक्षयितुं ते तुभ्यं ब्रवीमि न त्वज्ञातं किंचिदपि तव ज्ञापयामीति द्विजोत्तमेति विशेषणेनाऽऽचार्यं स्तुवन्स्वकार्ये तदाभिमुख्यं संपादयति । दौष्टयपक्षे द्विजोत्तमेति ब्राह्मणत्वात्तावद्युद्धाकुशलस्त्वं तेन त्वयि विमुखेऽपि भीष्मप्रभृतीनां क्षत्रियप्रवराणां सत्त्वान्नास्माकं महती क्षतिरित्यर्थः ।

(१) संज्ञार्थमिति प्रियशिष्याणां पाण्डवानां चमूं दृष्ट्वा हर्षेण व्याकुलमनसस्तव स्वीयवीरविस्मृतिर्मा भूदिति ममेयमुक्तिरिति भावः ॥ ७ ॥

(२) तत्र विशिष्टान्गणयति—

**भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।**
**अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिर्जयद्रथः ॥ ८ ॥**

(३) भवान्द्रोणो भीष्मः कर्णः कृपश्च । समितिं सङ्ग्रामं जयतीति समितिंजय इति कृपविशेषणं कर्णादनन्तरं गण्यमानत्वेन तस्य कोपमाशङ्क्य तन्निरासार्थम् । एते चत्वारः सर्वतो विशिष्टाः ।

(४) नायकान्गणयति—अश्वत्थामा द्रोणपुत्रः । भीष्मापेक्षयाऽऽचार्यस्य प्रथमगणनवद्विकर्णाद्यपेक्षया तत्पुत्रस्य प्रथमगणनमाचार्यपरितोषार्थम् । विकर्णः स्वभ्राता कनीयान् । सौमदत्तिः सोमदत्तस्य पुत्रः श्रेष्ठत्वाद्भूरिश्रवाः । जयद्रथः सिन्धुराजस्तथैव चेति क्वचित्पाठः ॥ ८ ॥

नाम लेकर संज्ञार्थ—शेष सबको उपलक्षित करानेके लिये मैं आपको बताता हूँ । मैं आपको कोई ऐसा योद्धा नहीं बता रहा हूँ जिसे आप जानते नहीं हैं । 'द्विजोत्तम' इस विशेषणसे आचार्य की स्तुति करके वह उन्हें अपने कार्यमें लगाना चाहता है । यदि उसकी दुष्टता की दृष्टिसे देखें तो 'द्विजोत्तम' कहनेका यह आशय होगा कि ब्राह्मण होनेके कारण आप तो युद्ध करनेमें कुशल नहीं हैं, किन्तु आप युद्धसे विमुख भी हो जायँ तो भी भीष्म आदि क्षत्रियश्रेष्ठोंके रहते हुए हमारी कोई बड़ी क्षति नहीं होगी ।

( १ ) 'संज्ञार्थम्' इस पदका यह भी तात्पर्य है कि अपने प्रिय शिष्य पाण्डवोंकी सेना देखकर आप हर्षमें बेसुध होकर अपने पक्षके वीरोंको न भूल जायँ—इसीलिये मेरा यह कथन है ॥ ७ ॥

( २ ) अपने पक्षके खास-खास वीरोंको गिनाता है—

[ श्लोकार्थः—आप, भीष्म, कर्ण और संग्रामजयी कृप—ये सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ वीर हैं । तथा अश्वत्थामा, विकर्ण, सौमदत्ति और जयद्रथ—ये मुख्य सेनानायक हैं ॥ ८ ॥ ]

( ३ ) आप द्रोणाचार्य, भीष्म, कर्ण और कृप । समिति अर्थात् संग्रामको जो जीते वह समितिञ्जय । कर्णसे पीछे गिने जानेके कारण द्रोणाचार्य कुपित होंगे—ऐसी आशंकासे उनका कोप शान्त करनेके लिये कृपको यह विशेषण दिया गया है । ये चार वीर और सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं ।

( ४ ) इसके बाद सेनानायकों की गणना करता है । अश्वत्थामा=द्रोणका पुत्र । जिसप्रकार आचार्यको भीष्मसे पहले गिना था उसी प्रकार विकर्णादिकी अपेक्षा उनके पुत्रको आचार्यकी प्रसन्नताके लिये ही पहले गिना है । विकर्ण मेरा छोटा भाई । सोमदत्ति सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा; अपने पिताके समान ही श्रेष्ठ होनेके कारण उसे 'सौमदत्ति' कहा है । तथा सिन्धुराज जयद्रथ, किसी-किसी प्रतिमें 'जयद्रथः' के स्थान पर तथैव च' ऐसा पाठ है ॥ ८ ॥



(१) किमेतावन्त एव नायका नेत्याह—

**अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।**
**नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥**

(२) अन्ये च शल्यकृतवर्मप्रभृतयो मदर्थे मत्प्रयोजनाय जीवितमपि त्यक्तुमध्यवसिता इत्यर्थेन त्यक्तजीविता इत्यनेन स्वस्मिन्ननुरागातिशयस्तेषां कथ्यते । एवं स्वसैन्यबाहुल्यं तस्य स्वस्मिन्भक्तिः शौर्यं युद्धोद्योगो युद्धकौशलं च दर्शितं शूरा इत्यादिविशेषणैः ॥ ९ ॥

(३) राजा पुनरपि सैन्यद्वयसाम्यमाशङ्क्य स्वसैन्याधिक्यमावेदयति—

**अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।**
**पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥**

(४) अपर्याप्तमनन्तमेकादशानौहिणीपरिमितं भीष्मेण च प्रथितमहिम्ना सूक्ष्मबुद्धिनाऽभितः सर्वतो रक्षितं तत्तादृशगुणवत्पुरुषाधिष्ठितमस्माकं बलम् । एतेषां पाण्डवानां बलं तु पर्याप्तं परिमितं सप्तानौहिणीमात्रात्मकत्वान्न्यूनं भीमेन चातिचपलबुद्धिना रक्षितं तस्मादस्माकमेव विजयो भविष्यतीत्यभिप्रायः ।

(५) अथवा तत्पाण्डवानां बलमपर्याप्तं नालमस्माकमस्मभ्यम् । कीदृशं तद्भीष्मोऽभिरक्षितोऽस्माभिर्यस्मै यन्निवृत्त्यर्थमित्यर्थः । तत्पाण्डवबलं भीष्माभिरक्षितम् । इदं पुनरस्मदीयं बलमेतेषां

( १ ) तो क्या इतने ही नायक हैं—ऐसी आशंका होनेपर कहता है 'नहीं'—

[ श्लोकार्थः—इनके सिवा और भी ऐसे बहुतसे वीर हैं जो मेरे लिये प्राण त्यागने को तैयार हैं । उनके पास अनेकों प्रकारके अस्त्र-शस्त्र हैं और वे सभी युद्धकलामें बड़े प्रवीण हैं ॥ ९ ॥ ]

( २ ) शल्य और कृतवर्मा आदि और भी अनेकों शूरवीर मेरे लिये—मेरे उद्देश्यसे अपने प्राण त्यागनेका भी निश्चय किये हुए हैं । इसप्रकार 'त्यक्तजीविताः' इस पदसे वह अर्थतः अपनेमें उनका अत्यन्त अनुराग बता रहा है । इसी तरह 'शूराः' आदि विशेषणोंसे उसने अपनी सेनाकी बहुलता, अपने प्रति उसकी भक्ति तथा शूरता, युद्धोत्साह और युद्धकौशल आदि गुण दिखाये हैं ॥ ९ ॥

( ३ ) राजा दुर्योधन फिर भी ऐसी आशंका करके कि आचार्य दोनों सेनाओंको समान ही न समझ लें अपनी सेनाकी अधिकता सूचित करता है—

[ श्लोकार्थः—हमारी सेना असीम है और सब ओरसे ( प्रख्यातमहिम सूक्ष्मबुद्धि ) भीष्म-द्वारा सुरक्षित है तथा इन पाण्डवोंकी सेना तो मर्यादित और चपलबुद्धि भीमकी देख-रेखमें है ॥ १० ॥ ]

( ४ ) हमारी यह सेना अपर्याप्त—असीम अर्थात् संख्यामें ग्यारह अक्षौहिणी और अभितः—सब ओरसे प्रख्यात प्रभाववाले सूक्ष्मबुद्धि भीष्मद्वारा सुरक्षित है । अर्थात् ऐसा गुणवान् पुरुष हमारी सेनाकी देख-रेख करता है । और इन पाण्डवोंकी सेना तो पर्याप्त—परिमित—केवल सात अक्षौहिणी होनेके कारण हमारी अपेक्षा न्यून एवं अत्यन्त चपलबुद्धि भीमद्वारा रक्षित है । अतः अभिप्राय यह है कि हमारी ही जीत होगी ।

( ५ ) अथवा यह पाण्डवोंकी सेना हमारे पराभवके लिये अपर्याप्त—असमर्थ है । कैसी है यह ?—जिसकी निवृत्तिके लिये हमने भीष्मको सुरक्षित रक्खा है; अतः यह पाण्डवोंकी सेना भीष्माभिरक्षित है । और हमारी जो यह सेना है वह पर्याप्त—इन

पाण्डवानां पर्याप्तं परिभवे समर्थम् । भीमोऽतिदुर्बलहृदयोऽभिरक्षितो यस्मै तदस्माकं बलं भीमाभिरक्षितम् । यस्माद्भीमोऽत्ययोग्य एवैतन्निवृत्त्यर्थं तैरक्षितस्तस्मादस्माकं न किंचिदपि भयकारणमस्तीत्यभिप्रायः॥

(१) एवं चेन्निर्भयोऽसि तर्हि किमिति बहु जल्पसीत्यत आह—

**अयनेषु तु सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।**
**भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥**

(२) कर्तव्यविशेषद्योती तुशब्दः । समरसमारम्भसमये योधानां यथाप्रधानं युद्धभूमौ पूर्वापरादिदिग्विभागेनावस्थितिस्थानानि यानि नियम्यन्ते तान्यत्रायनान्युच्यन्ते । सेनापतिश्च सर्वसैन्यमधिष्ठाय मध्ये तिष्ठति । तत्रैवं सति यथाभागं विभक्तां स्वां स्वां रणभूमिमपरित्यज्यावस्थिताः सन्तो भवन्तः सर्वेऽपि युद्धाभिनिवेशात्पुरतः पृष्ठतः पार्श्वतश्चानिरीक्षमाणं भीष्मं सेनापतिमेव रक्षन्तु । भीष्मे हि सेनापतौ रक्षिते तत्प्रसादादेव सर्वं सुरक्षितं भविष्यतीत्यभिप्रायः ॥ ११ ॥

(३) स्तौतु वा निन्दतु वा, एतदर्थं देहः पतिष्यत्येवेत्याशयेन तं हर्षयन्नेव सिंहनादं [ विनद्य ] शङ्खवाद्यं च कारि(वादि)तवानित्याह—

**तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।**
**सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥**

(४) एवं पाण्डवसैन्यदर्शनादतिभीतस्य भयनिवृत्त्यर्थमाचार्यं कपटेन शरणं गतस्येदानीमप्ययं

पाण्डवोंका पराभव करनेमें समर्थ है, क्योंकि इसके लिये उन्होंने अत्यन्त दुर्बलचित्त भीमको सुरक्षित रक्खा है; अतः यह हमारी सेना भीमाभिरक्षित है, क्योंकि उन्होंने इसकी निवृत्तिके लिये अत्यन्त अयोग्य भीमको सुरक्षित रक्खा है, इसलिये हमारे लिये भयका कुछ भी कारण नहीं है—ऐसा इसका अभिप्राय है ॥ १० ॥

( १ ) 'इस प्रकार यदि तू निर्भय है तो इतनी अधिक बातें क्यों करता है ?' ऐसा यदि आचार्य कहें तो दुर्योधन कहता है—

[ श्लोकार्थः—आप सभी लोग अपने-अपने विभागके अनुसार सब मोर्चोंपर डटे रह कर सब प्रकार भीष्मकी ही रक्षा करें ॥ ११ ॥ ]

( २ ) 'तु' शब्द विशेष कर्त्तव्यको सूचित करनेवाला है । युद्धके आरम्भमें योद्धाओंकी योग्यताके अनुसार युद्धभूमिमें जो पूर्व-पश्चिम आदि दिशाओंके विभागसे खड़े होनेके स्थान निश्चित किये जाते हैं उन्हें यहाँ 'अयन' कहा गया है । सेनापति सारी सेनाके ऊपर अधिकार रखकर बीचमें खड़ा होता है । इस प्रकार विभागके अनुसार बाँटी हुई अपनी-अपनी युद्धभूमिको बिना छोड़े—वहीं डटे रहकर आप सभी लोग युद्धमें दत्तचित्त हो जानेके कारण आगे, पीछे अथवा इधर-उधर न देखनेवाले सेनापति भीष्मकी ही रक्षा करें । तात्पर्य यह है कि सेनापति भीष्मके सुरक्षित रहनेपर उनकी कृपासे ही सबकी रक्षा हो जायगी ॥ ११ ॥

( ३ ) 'स्तुति करे अथवा निन्दा, इस दुर्योधनके लिये मेरा देहपात होगा ही'—इस आशयसे उसे हर्षित करते हुए पितामह भीष्मने सिंहनाद और शंखका घोष किया—उसीका वर्णन करते हैं—

[ श्लोकार्थः—तब कौरवोंमें वृद्ध प्रतापवान् पितामह भीष्मने दुर्योधनको हर्ष उत्पन्न कराते हुए जोरसे सिंहनाद करके अपना शंख बजाया ॥ १२ ॥ ]

( ४ ) इस प्रकार भीष्मपितामहने यह देखकर कि दुर्योधन पाण्डवोंकी सेना



मां प्रतारयतीत्यसंतोषवशादाचार्येण वाङ्मात्रेणाप्यनादृतस्याऽऽचार्योपेक्षां बुद्ध्वाऽयनेष्वित्यादिना भीष्ममेव स्तुवतस्तस्य राज्ञो भयनिवर्तकं हर्षं बुद्धिगतमुल्लासविशेषं स्वविजयसूचकं जनयन्नुच्चैर्महान्तं सिंहनादं विनद्य कृत्वा, यद्वा सिंहनादमिति णमुलन्तम् । अतो रैपोषं[1] पुष्णातीतिवत्तस्यैव धातोः पुनः प्रयोगः । शङ्खं दध्मौ वादितवान् ।

(१) कुरुवृद्धत्वादाचार्यदुर्योधनयोरभिप्रायपरिज्ञानं, पितामहत्वादनुपेक्षणं न त्वाचार्यवदुपेक्षणं, प्रतापवत्त्वादुच्चैः सिंहनादपूर्वकशङ्खवादनं परेषां भयोत्पादनाय ।

(२) अत्र सिंहनादशङ्खवाद्ययोर्हर्षजनकत्वेन पूर्वापरकालत्वेऽप्यभिचरन्यजेतेतिवज्जनयन्निति शताऽवश्यंभाविन्त्वरूपवर्तमानत्वे व्याख्यातव्यः ॥ १२ ॥

**ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।**
**सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥**

देखकर बहुत डर गया है और अपना भय दूर करनेके लिये ही उसने कपटपूर्वक आचार्यकी शरण ली है, किन्तु आचार्यने 'यह अब भी मुझे धोखा देगा' ऐसी आशंकासे उसका वाणीमात्रसे भी सत्कार नहीं किया, इस तरह आचार्यकी उपेक्षा जानकर और 'अयनेषु' इत्यादि वाक्यसे उसे अपनी ही स्तुति करते देखकर उसे बुद्धिगत विशेष उल्लास उत्पन्न करते हुए हर्ष अर्थात् अपनी विजयकी सूचना देनेवाला ऊँचे स्वरसे गरजकर उसका भय दूर करनेवाला सिंहनाद किया । 'सिंहनादम्' यह शब्द णमुलन्त है । अतः 'रैपोषं पुष्णाति' इस प्रयोगके अनुसार 'सिंहनादं विनद्य' इस वाक्यमें 'नद्' धातुका पुनः प्रयोग हुआ है । तथा शंख फूँका अर्थात् बजाया ।

( १ ) कुरुवृद्ध होनेके कारण भीष्मको आचार्य और दुर्योधनके आशयका पता था और पितामह होनेके कारण उनमें अनुपेक्षा थी—आचार्यके समान वे उपेक्षा नहीं कर सकते थे । वे प्रतापवान् थे; इसलिये उन्होंने विपक्षियोंको भय उत्पन्न करनेके लिये जोरसे सिंहनाद करके शंख बजाया ।

( २ ) सिंहनाद और शंखनाद हर्षके उत्पन्न करनेवाले हैं; अतः पहले सिंहनाद और शंखनाद होने चाहिये, उनके पीछे हर्ष उत्पन्न होगा । यहाँ जो 'हर्षं जनयन्' ( हर्ष उत्पन्न करते हुए ) ऐसा शतृप्रत्ययान्तका प्रयोग किया है उसकी व्याख्या 'अभिचरन् यजेत' ( अभिचार करते हुए अर्थात् अभिचार करनेके लिये यजन करे ) इस प्रयोग के समान हर्षरूप फलकी अवश्यम्भाविताके द्योतक वर्तमानके रूपमें कर लेनी चाहिये ॥ १२ ॥

[ श्लोकार्थः—तब एक ही साथ शंख, भेरी, पणव, आनक और गोमुख ये सब बाजे बजने लगे । उनका बड़ा भारी शब्द होने लगा ॥ १३ ॥ ]

१. 'स्वे पुषः' ( पा० सू० ३।४।४० ) इस सूत्रका अर्थ है—स्वार्थवाचक शब्दोंके पूर्व रहने पर पुष् धातुसे णमुल् होता है ।' 'स्व' शब्द 'रै' शब्द एवं 'धन' शब्द पर्याय हैं, अतः रैपोषं और धनपोषं भी इसके उदाहरण हैं । 'कषायादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः' ( पा० सू० ३।४।४६ ) इस सूत्रके अनुसार जिस धातुसे णमुल् किया गया है, उसीका पुनः प्रयोग होता है—'रैपोषं पुष्णाति,' 'धनपोषं पुष्णाति' ( अर्थात् धनसे पोषण करता है ) । वैसे ही 'सिंहनादं विनदति'—यहाँ भी णमुलन्त 'नद्' धातुके अनन्तर 'नद्'का पुनः प्रयोग किया गया है । 'सिंह' उपमान है, अतः यहाँ 'उपमाने कर्मणि च' ( पा० सू० ३।४।४५ ) सूत्रसे णमुल् किया गया है, अतः 'सिंहनादं नदति' का अर्थ होता है—

(१) ततो भीष्मस्य सेनापतेः प्रवृत्त्यनन्तरं पणवा आनका गोमुखाश्च वाद्यविशेषाः सहसा तत्क्षणमेवाभ्यहन्यन्त वादिताः। कर्मकर्तरि प्रयोगः। स शब्दस्तुमुलो महानासीत्तथाऽपि न पाण्डवानां क्षोभो जात इत्यभिप्रायः ॥ १३ ॥

**ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।**
**माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥**

(२) अन्येषामपि रथस्थत्वे स्थित एवासाधारण्येन रथोत्कर्षकथनार्थं ततः श्वेतैर्हयैर्युक्त इत्यादिना रथस्थत्वकथनं, तेनाग्निदत्ते दुष्प्रधृष्ये रथे स्थितौ सर्वथा जेतुमशक्याविति्यर्थः ॥ १४ ॥

**पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।**
**पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥**
**अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।**
**नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥**

(३) पाञ्चजन्यो देवदत्तः पौण्ड्रोऽनन्तविजयः सुघोषो मणिपुष्पकश्चेति शङ्खनामकथनं परसैन्ये स्वस्वनामभिः प्रसिद्धा एतावन्तः शङ्खा भवत्सैन्ये तु नैकोऽपि स्वनामप्रसिद्धः शङ्खोऽस्तीति परेषामुत्कर्षातिशयकथनार्थम्।

---

( १ ) तब सेनापति भीष्मकी प्रवृत्तिके पश्चात् पणव, आनक और गोमुख इन सभी विशेष-विशेष बाजोंका अभिघात होने लगा अर्थात् ये सभी बजाये जाने लगे। 'अभ्यहन्यन्त' यह 'अभि' पूर्वक 'हन्' धातुका कर्म-कर्त्तामें प्रयोग है। वह शब्द तुमुल=बड़ा भारी हुआ, तो भी पाण्डवोंको उससे क्षोभ नहीं हुआ—ऐसा इसका अभिप्राय है ॥ १३ ॥

[ श्लोकार्थः—तब सफेद घोड़ोंसे जुते बहुत बड़े रथमें बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुनने अपने दिव्य शंख बजाये ॥ १४ ॥ ]

( २ ) अन्य योद्धाओंके रथमें स्थित रहनेपर भी 'ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते' इत्यादि श्लोकसे श्रीकृष्ण और अर्जुनकी रथस्थता उनके रथकी असाधारण रूपसे उत्कृष्टता बतलानेके लिये है। अतः वे अग्निके दिये हुए कठिनतासे काबूमें आनेवाले रथमें स्थित होनेके कारण सर्वथा दुर्जय थे—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ १४ ॥

[ श्लोकार्थः—श्रीकृष्णने पाञ्चजन्य, अर्जुनने देवदत्त, भयंकर कर्म करनेवाले भीमने पौण्ड्र नामका महाशंख, कुन्तीपुत्र महाराज युधिष्ठिरने अनन्तविजय तथा नकुल और सहदेवने सुघोष एवं मणिपुष्पक नामके शंख बजाये ॥ १५-१६ ॥ ]

( ३ ) पाञ्चजन्य, देवदत्त, पौण्ड्र, अनन्तविजय, सुघोष और मणिपुष्पक—ये सब शंखोंके नाम कहे गये हैं। 'विपक्षियोंकी सेनामें अपने-अपने नामसे प्रसिद्ध इतने शंख हैं, किन्तु आपकी सेनामें अपने नामसे प्रसिद्ध एक भी शंख नहीं है' इस प्रकार यह कथन विपक्षियोंका अतिशय उत्कर्ष सूचित करनेके लिये ही है।

---

'सिंह इव नदति'। इसी के अनुसार 'रैपोषं पुष्णाति'में 'स्वे पुषः'से णमुल् नहीं करना चाहिये, अपितु 'उपमाने कर्मणि' से ही करना चाहिए।



(१) सर्वेन्द्रियप्रेरकत्वेन सर्वान्तर्यामी सहायः पाण्डवानामिति कथयितुं हृषीकेशपदम्। दिग्विजये सर्वान् राज्ञो जित्वा धनमाहृतवानिति सर्वथैवायमजेय इति कथयितुं धनञ्जयपदम्। भीमं हिडिम्बवधादिरूपं कर्म यस्य तादृशो 'वृकोदरत्वेन बह्वन्नपाकादतिबलिष्ठो भीमसेन इति कथितम्। कुन्तीपुत्र इति कुन्त्या महता तपसा धर्ममाराध्य लब्धः। स्वयं च राजसूययाजित्वेन मुख्यो राजा। युधि चायमेव जयभागित्वेन स्थिरो न त्वेतद्विपक्षाः स्थिरा भविष्यन्तीति युधिष्ठिरपदेन सूचितम्। नकुलः सुघोषं सहदेवो मणिपुष्पकं दध्माविति्यनुषज्यते ॥ १५-१६ ॥

**काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।**
**धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥**
**द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।**
**सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥ १८ ॥**

(२) परमेष्वासः काश्यो महाधनुर्धरः काशिराजः। न पराजितः पारिजातहरणबाणयुद्धादिमहासङ्ग्रामेषु एतादृशः सात्यकिः। हे पृथिवीपते धृतराष्ट्र स्थिरो भूत्वा शृण्विति्यभिप्रायः। सुगममन्यत् ॥ १७-१८ ॥

---

( १ ) समस्त इन्द्रियोंके प्रेरकरूपसे साक्षात् सर्वान्तर्यामी ही पाण्डवोंके सहायक हैं—यह बतानेके लिये श्रीकृष्णके लिये 'हृषीकेश' पद दिया है। अर्जुन दिग्विजयमें समस्त राजाओंको जीतकर धन ले आया था, अतः वह सर्वथा अजेय है—यह बतानेके लिये उसके लिये 'धनञ्जय' पद रक्खा है। जिसके हिडिम्बवध आदि बड़े भयानक कर्म हैं उस भीमसेनको 'वृकोदरताके कारण बहुत-सा अन्न पचा सकनेसे अत्यन्त बलवान् बताया गया है। 'कुन्तीपुत्र' इस पदसे यह बताया गया है कि इन्हें कुन्तीने महान् तपस्यासे धर्मकी आराधना करके प्राप्त किया है। स्वयं भी राजसूय यज्ञसे यजन करनेके कारण ये मुख्य राजा हैं तथा युद्धमें भी जयभागी होनेके कारण ये ही स्थिर रहेंगे, इनके विपक्षी नहीं—यह बात युधिष्ठिर पदसे सूचित की है। नकुलने सुघोष और सहदेवने मणिपुष्पक नामका शंख बजाया—इस प्रकार इनका सम्बन्ध लगाना चाहिये ॥

[ श्लोकार्थः—महान् धनुर्धर काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट, अजेय सात्यकि, द्रुपद, द्रौपदीके पुत्र और महाबाहु अभिमन्यु—इन सभीने, हे पृथ्वीपते ! अलग-अलग शंख बजाये ॥ १७-१८ ॥ ]

( २ ) परमेष्वास काश्य—महान् धनुर्धर काशिराज। पारिजातहरण और बाणयुद्ध आदि महान् संग्रामोंमें भी जो पराजित नहीं हुआ वह सात्यकि। हे पृथिवीपते अर्थात् हे धृतराष्ट्र ! आप सावधान होकर सुनिये। शेष सब सुगम है ॥ १७-१८ ॥

---

१. मत्स्य-पुराण में लिखा है—

यस्य तीक्ष्णो वृको नाम जठरे हव्यवाहनः। मया दत्तः स धर्मात्मा तेन चासौ वृकोदरः ॥

भगवान् ने कहा—मेरी दी हुई 'वृक' नामकी तीक्ष्ण अग्नि इसके उदरमें है, अतः इस धर्मात्मा को 'वृकोदर' कहते हैं।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

(१) धार्तराष्ट्राणां सैन्ये शङ्खादिध्वनिरतितुमुलोऽपि न पाण्डवानां क्षोभकोऽभूत् । पाण्डवानां सैन्ये जातस्तु स शङ्खघोषो धार्तराष्ट्राणां धृतराष्ट्रस्य तव संबन्धिनां सर्वेषां भीष्मद्रोणादीनामपि हृदयानि व्यदारयत्, हृदयविदारणतुल्यां व्यथां जनितवानित्यर्थः । यतस्तुमुलोऽतितीव्रो नभश्च पृथिवीं च प्रतिध्वनिभिरापूरयन् ॥ १९ ॥

(२) धार्तराष्ट्राणां भयप्राप्तिं प्रदर्श्य पाण्डवानां तद्वैपरीत्यमुदाहरति—

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥

(३) भीतिप्रत्युपस्थितेरनन्तरं पलायने प्राप्तेऽपि तद्विरुद्धतया युद्धोद्योगेनावस्थितानेव परान्प्रत्यक्षेणोपलभ्य तदा शस्त्रसंपाते प्रवर्तमाने सति, वर्तमाने क्तः, कपिध्वजः पाण्डवो हनूमता महावीरेण ध्वजरूपतयाऽनुगृहीतोऽर्जुनः सर्वथा भयशून्यत्वेन युद्धाय गाण्डीवं धनुरुद्यम्य हृषीकेशमिन्द्रियप्रव-

[ श्लोकार्थः—उस शब्दने आकाश और पृथ्वीको अत्यन्त गुञ्जायमान करते हुए धृतराष्ट्रपुत्रोंके हृदयोंको फाड़ दिया ॥ १९ ॥ ]

( १ ) धार्तराष्ट्रोंकी सेनामें शंखादि बाजोंकी बड़ा तुमुल ध्वनि हुई थी, परन्तु वह पाण्डवोंमें क्षोभ उत्पन्न नहीं कर सकी । परन्तु पाण्डवोंकी सेनामें उत्पन्न हुए उस शंखनादने धार्तराष्ट्रोंके अर्थात् धृतराष्ट्रसे सम्बन्ध रखनेवाले आप भीष्म, द्रोण आदि सभी वीरोंके हृदयोंको फाड़ दिया । अर्थात् उसने उनमें हृदयविदारणके समान व्यथा उत्पन्न कर दी । क्योंकि वह शब्द तुमुल—बड़ा तीव्र था, इसलिये उसने पृथ्वी और आकाशको गुँजा दिया ॥ १९ ॥

( २ ) धृतराष्ट्र-पक्षके वीरोंकी भयप्राप्ति दिखाकर अब 'अथ' इत्यादि श्लोकोंसे पांण्डवोंकी इससे विपरीत स्थिति दिखाते हैं—

[ श्लोकार्थः—राजन् ! तब कौरवपक्षके वीरोंको युद्धके लिये सुसज्जित देख जब शस्त्र चलानेका समय आया तो पाण्डुपुत्र कपिध्वज अर्जुनने अपना धनुष उठाकर श्रीकृष्णसे यह बात कही । अर्जुनने कहा—हे अच्युत ! आप दोनों सेनाओंके बीचमें मेरा रथ खड़ा कर दीजिये ॥ २०-२१ ॥ ]

( ३ ) भय उत्पन्न होनेके पश्चात् यद्यपि भागनेकी ही बारी आती है, फिर भी कौरव वीरोंको उसके विपरीत युद्धके लिये तैयार होकर साक्षात् खड़े हुए देख तब शस्त्र-सञ्चालनका समय आनेपर—'प्रवृत्ते' इस पदमें वर्तमान अर्थमें 'क्त'प्रत्यय हुआ है—कपिध्वज पाण्डवने अर्थात् ध्वजारूपसे महावीर हनुमान् द्वारा अनुगृहीत अर्जुनने सर्वथा निर्भीकभावसे युद्धके लिये गाण्डीव धनुष उठाकर हृषीकेशसे—इन्द्रिय-प्रवर्तकरूपसे



र्तकत्वेन सर्वान्तःकरणवृत्तिज्ञं श्रीकृष्णमिदं वक्ष्यमाणं वाक्यमाहोक्तवान्न त्वविमृश्यकारितया स्वयमेव यत्किंचित्कृतवानिति परेषां विमृश्यकारित्वेन नीतिधर्मयोः कौशलं वदन्नविमृश्यकारितया परेषां राज्यं गृहीतवानसीति नीतिधर्मयोरभावात्तव जयो नास्तीति महीपत इति संबोधनेन सूचयति ।

(१) तदेवार्जुनवाक्यमवतारयति—सेनयोरुभयोः स्वपक्षप्रतिपक्षभूतयोः संनिहितयोर्मध्ये मम रथं स्थापय स्थिरीकुर्विति सर्वेश्वरो नियुज्यतेऽर्जुनेन । अनेन किं हि भक्तानामशक्यं यद्भगवानपि तन्नियोगमनुतिष्ठतीति ध्रुवो जयः पाण्डवानामिति सूचयति ।

(२) नन्वेवं रथं स्थापयन्तं मामेते शत्रवो रथाच्च्यावयिष्यन्तीति भगवदाशङ्कामाशङ्क्याऽऽह—अच्युतेति । देशकालवस्तुष्वच्युतं त्वां को वा च्यावयितुमर्हतीति भावः । एतेन सर्वदा निर्विकारत्वेन नियोगनिमित्तः कोपोऽपि परिहृतः ॥ २०-२१ ॥

(३) मध्ये रथस्थापनप्रयोजनमाह—

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
[1]कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

सबके अन्तःकरणोंकी वृत्तियोंको जाननेवाले श्रीकृष्णसे यह अगला वाक्य कहा । अर्जुन बिना विचारे काम करनेवाला नहीं था, इसलिये उसने स्वयं ही चाहे जो नहीं कर डाला । इस प्रकार विपक्षियोंके विचारपूर्वक काम करनेसे उनका नीति और धर्मसम्बन्धी कौशल दिखाकर 'महीपते' सम्बोधनसे यह सूचित करता है कि आपने बिना विचारे उनका राज्य ले लिया है, अतः नीति और धर्मका अभाव होनेके कारण आपकी जीत नहीं हो सकती ।

( १ ) अब उस अर्जुनके वाक्यको प्रस्तुत करता है—दोनों सेनाओंके बीचमें अर्थात् आमने-सामने खड़ी हुई अपनी और शत्रुओंकी सेनाओंके बीचमें आप मेरा रथ खड़ा कर दीजिये—इस प्रकार अर्जुन सर्वेश्वरको आज्ञा दे रहा है । भला, जब भगवान् भी भक्तोंकी आज्ञाका पालन करते हैं तो उनके लिये कौन काम कठिन है ? इससे सिद्ध होता है कि पाण्डवोंका विजय निश्चित है ।

( २ ) भगवान्की ओरसे ऐसी आशंकाका सन्देह करके कि 'इस प्रकार रथ खड़ा करनेसे ये शत्रुलोग मुझे रथसे गिरा देंगे' अर्जुन उन्हें 'अच्युत' ऐसा कहकर सम्बोधन करता है । तात्पर्य यह है कि आप तो देश, काल अथवा वस्तु किसीके भी परिच्छेदमें नहीं गिरते फिर ऐसा कौन है जो आपको गिरा सके । ऐसा कहकर भगवान्की निर्विकारता सूचित करके आज्ञाके कारण होनेवाले उनके क्रोधका भी निराकरण कर दिया ॥ २०-२१ ॥

( ३ ) बीचमें रथ खड़ा कराने का प्रयोजन बतलाता है—

[ श्लोकार्थः—जहाँसे कि मैं युद्धकी इच्छासे खड़े हुए इन योद्धाओंको देख लूँ और यह निश्चय कर लूँ कि इस युद्धके समारम्भमें मुझे किनके साथ लड़ना है ॥ २२ ॥ ]

१. 'कैर्मया सह योद्धव्यम्'—इस वाक्यका अर्थ अधिकतर व्याख्याताओंने यही किया कि 'किन (शत्रुओं) के साथ मुझे या किन (शत्रुओं) को मेरे साथ युद्ध करना है ?' श्री मधुसूदन सरस्वती (१७ वीं शताब्दी) ने शब्दार्थकी दृष्टिसे नीलकण्ठ (१६ वीं शताब्दी) का अधिक अनुसरण किया है, नीलकण्ठने भी लिखा है—'कैः सह मया योद्धव्यं, मया सह वा कैर्योद्धव्यमुभयत्र सह-शब्द-

(१) योद्धुकामान्न त्वस्माभिः सह सन्धिकामानवस्थितान्न तु भयाल्प्रचलितान्, एतान्भीष्म-द्रोणादीन्यावद्वयवेक्षेऽहं निरीक्षितुं क्षमः स्यां तावत्प्रदेशे रथं स्थापयेत्यर्थः। यावदिति कालपरं वा।

(१) जहाँ जाकर मैं युद्धकी इच्छावाले—सन्धिकी कामनावाले नहीं, तथा युद्धभूमिमें खड़े हुए - युद्धसे भागनेवाले नहीं, इन भीष्म-द्रोणादिको देख सकूँ उस स्थानमें मेरा रथ खड़ा कर दो—ऐसा इसका तात्पर्य है। अथवा 'यावत्' का अर्थ 'जब तक' ऐसा कालपरक करना चाहिये।

सम्बन्धः।' इससे यही प्रतीत होता है कि अर्जुन केवल दुर्योधनके सैन्यका निरीक्षण करना चाहता था। किन्तु इस पक्षमें २२वें तथा २३ वें श्लोकोंमें पुनरुक्ति-सी हो जाती है, क्योंकि जो बात 'यावदेतान् निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्' से कही गई, वही 'योत्स्यमानानवेक्षेऽहम्' से कही जाती है। इसलिए यहाँ पर म० म० हरिहरकृपालु द्विवेदीकी व्यवस्था उचित जँच रही है कि 'सेनयोरुभयोरपि'—इस कथनसे नितान्त स्पष्ट है कि अर्जुन दोनों सैन्योंके मध्यमें जाना चाहता था, जिससे दोनों पक्षोंके योद्धाओंपर एक दृष्टि डाल सके। अतः २२ वें श्लोकसे वह अपने और २३ वें श्लोक से दुर्योधनके रणबाँकुरोंके दर्शनकी इच्छा प्रकट करता है। इस प्रकार 'कैर्मया सह योद्धव्यम्' का अर्थ होता है—'मया सह कैः योद्धव्यम्?' अर्थात् मेरे साथ (कन्धेसे कन्धा भिड़ाकर) कौन (मित्रगण) शत्रुओंसे युद्ध करेंगे? और 'योत्स्यमानानवेक्षेऽहम्'—इसका अर्थ होता है—दुर्योधन-पक्षके योद्धाओंको देखूँ।

ऐसी व्यवस्था कर देनेपर कथित पुनरुक्ति तो नहीं रहती, परन्तु यह विचारणीय हो जाता है कि यदि अर्जुनने दोनों सेनाओंके मध्यमें जाकर उभय पक्षके योद्धाओंके निरीक्षणकी इच्छा प्रकट की थी, तब भगवान् कृष्ण को भी दोनों दलोंके प्रमुख व्यक्तियोंका परिचय कराना चाहिए था। किन्तु भगवान् तो केवल भीष्म, द्रोण आदि दुर्योधनपक्षीय महारथियोंको निर्देश करके कहते हैं—'पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति' अर्थात् देख ले इन कौरवगणोंको। इससे स्पष्ट है कि भगवान्ने केवल दुर्योधन-सैन्य दिखाया। अर्जुनने भी जिन सम्बन्धियोंको देखा, वे सब दुर्योधनकी सेनाके ही थे—ऐसी व्याख्या की गई है। हाँ, उक्त निर्देश अपने सैनिकोंका भी उपलक्षण हो सकता, फिर भी आगे चलकर अर्जुन कहता है—'न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे' अर्थात् अपने सम्बन्धियोंको मार कर मैं अपना कल्याण नहीं देखता। इस समय यदि अर्जुनके हृदयमें अपने सैनिकोंकी मृत्यु भी दीख रही थी, तो 'हत्वा' और 'घातयित्वा' दोनों प्रकारके शब्दोंका प्रयोग करना चाहिए था; क्योंकि अपने योद्धाओंके लिए हत्वा (मार कर) कहना बनता नहीं। और आगे अर्जुन कहता है—'तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान्' अर्थात् हमें अपने धार्तराष्ट्र बन्धुओंको मारना उचित नहीं। यहाँ भी वह परसैन्यका ही निर्देश करता है। अर्जुन अपना अन्तिम निर्णय देता है—

'यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः। धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥'

यहाँ भी धार्तराष्ट्र जनोंका ही उल्लेख करता है, अर्जुनका पूरा वक्तव्य समाप्त हो जाता है, किन्तु वह अपने सैनिकोंपर दृष्टि-प्रक्षेप करता नहीं प्रतीत होता। केवल—

'येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च। त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥'

इस कथनसे कुछ झलक पड़ रही है कि अर्जुनकी अपनी सेनापर भी दृष्टि थी, अतः हाथ से इशारा करता हुआ कहता है—जिनके लिए हमें राज्य, भोग और सुख अपेक्षित थे, वे ये (भीम आदि) मौतके द्वारपर खड़े हैं। किन्तु यह उक्ति भीष्मपितामह आदिके लिए भी हो



(१) ननु त्वं योद्धा न तु युद्धप्रेक्षकः, अतस्तव किमेषां दर्शनेनेत्यत्राऽऽह—कैरिति। अस्मिन्नणसमुद्यमे बन्धूनामेव परस्परं युद्धोद्योगे मया कैः सह योद्धव्यं मत्कर्तृकयुद्धप्रतियोगिनः के कैर्मया सह योद्धव्यं किंकर्तृकयुद्धप्रतियोग्यहमिति च महदिदं कौतुकमेतज्ज्ञानमेव मध्ये रथस्थापनप्रयोजनमित्यर्थः॥ २२॥

(२) ननु बन्धव एते परस्परं सन्धिं कारयिष्यन्तीति कुतो युद्धमित्याशङ्क्याऽऽह—

**योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।**
**धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः॥ २३॥**

(३) य एते भीष्मद्रोणादयो धार्तराष्ट्रस्य दुर्योधनस्य दुर्बुद्धेः स्वरक्षणोपायमजानतः प्रियचिकीर्षवो युद्धे न तु दुर्बुद्ध्यपनयनादौ तान्योत्स्यमानानहमवेक्ष उपलभे न तु सन्धिकामान्। अतो युद्धाय तत्प्रतियोग्यवलोकनमुचितमेवेति भावः॥ २३॥

(४) एवमर्जुनेन प्रेरितो भगवानहिंसारूपं धर्ममाश्रित्य प्रायशो युद्धात्तं व्यावर्तयिष्यतीति धृतराष्ट्राभिप्रायमाशङ्क्य तं निराचिकीर्षुः संजयो धृतराष्ट्रं प्रत्युक्तवानित्याह वैशम्पायनः—

**संजय उवाच—**
**एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत!।**

(१) 'किन्तु तुम तो योद्धा हो, युद्धके दर्शक तो हो नहीं; अतः इन सबको देखनेसे तुम्हारा क्या प्रयोजन है?' ऐसी आशंका करके कहता है—'कैः' इत्यादि। इस युद्धसमारोहमें—भाइयोंके ही इस पारस्परिक युद्धोद्योगमें मुझे किनके साथ लड़ना होगा, अर्थात् मेरे किये हुए युद्धके प्रतियोगी कौन होंगे? और किन्हें मेरे साथ लड़ना होगा, अर्थात् किनके किये हुए युद्धका प्रतियोगी मैं होऊँगा?—यह बड़ा भारी कौतुक है और इसे जानना ही दोनों सेनाओंके बीचमें रथ खड़ा करानेका प्रयोजन है—ऐसा इसका तात्पर्य है॥ २२॥

(२) अब यदि भगवान् ऐसी आशंका करें कि ये तो भाई-भाई हैं, आपसमें मेल कर लेंगे, इसलिये फिर युद्ध होगा ही कैसे? तो अर्जुन कहता है—

[ श्लोकार्थः—यहाँ युद्धमें जो दुर्बुद्धिं दुर्योधनका प्रिय करनेकी इच्छासे एकत्रित हुए हैं उन युद्धके लिये तैयार वीरोंको मैं देखूँगा॥ २३॥ ]

(३) ये जो भीष्म-द्रोणादि दुर्बुद्धि धार्तराष्ट्रका—अपनी रक्षाका उपाय न जाननेवाले दुर्योधनका युद्धमें प्रिय करनेकी इच्छासे, न कि उसकी दुर्बुद्धिको दूर करके उसका हित करनेके लिये, एकत्रित हुए हैं उन युद्धकी इच्छावालोंको ही मैं देखूँगा—सन्धिकी कामना करनेवालोंको नहीं। अतः युद्धके लिये अपने प्रतियोगियोंको देखना उचित ही है—ऐसा इसका भाव है॥ २३॥

(४) 'इस प्रकार अर्जुनसे प्रेरित होनेपर भगवान् प्रायः अहिंसा धर्मका आश्रय लेकर उसे युद्धसे निवृत्त ही करेंगे' ऐसा धृतराष्ट्रका आशय जानकर उसका निराकरण करनेके लिये सञ्जयने कहा—यह बात श्रीवैशम्पायनजी कहते हैं—

[ श्लोकार्थः—सञ्जयने कहा—हे धृतराष्ट्र! अर्जुनके इस प्रकार कहनेपर भगवान्

सकती है, अतः अर्जुनकी वह अपने योद्धाओंकी दर्शनाभिलाषा कब पूरी हुई? उनके लिए उसने क्या कहा? यह सब गोल-माल है।

सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ ! पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥

(१) हे भारत ! धृतराष्ट्र ! भरतवंशमर्यादामनुसंधायापि द्रोहं परित्यज ज्ञातीनामिति संबोधनाभिप्रायः । गुडाकाया निद्राया ईशेन जितनिद्रतया सर्वत्र सावधानेनार्जुनेनैवमुक्तो भगवानयं मद्भृत्योऽपि सारथ्ये मां नियोजयतीति दोषमासज्य नाकुप्यत् , न वा तं युद्धान्न्यवर्तयत्किंतु सेनयोरुभयोर्मध्ये भीष्मद्रोणप्रमुखतस्तयोः प्रमुखे संमुखे सर्वेषां महीक्षितां च संमुखे, आद्यादित्वात्सार्वविभक्तिकस्तसिः । चकारेण समासनिविष्टोऽपि प्रमुखतः शब्द आकृष्यते । भीष्मद्रोणयोः पृथक्कीर्तनमतिप्राधान्यसूचनाय । रथोत्तममग्निना दत्तं दिव्यं रथं भगवता स्वयमेव सारथ्येनाधिष्ठिततया च सर्वोत्तमं स्थापयित्वा [1]हृषीकेशः सर्वेषां निगूढाभिप्रायज्ञो भगवानर्जुनस्य शोकमोहावुपस्थिताविति विज्ञाय सोपहासमर्जुनमुवाच ।

(२) हे पार्थ पृथायाः स्त्रीस्वभावेन शोकमोहग्रस्ततया तत्संबन्धिनस्तवापि तद्वत्ता समुपस्थितेति सूचयन्हृषीकेशस्त्वमात्मनो दर्शयति । पृथा मम पितुः स्वसा तस्याः पुत्रोऽसीति संबन्धोल्लेखेन चाऽऽश्वासयति । मम सारथ्ये निश्चितो भूत्वा सर्वानपि समवेतान्कुरून्युयुत्सून्पश्य निःशङ्कतयेति

कृष्णने दोनों सेनाओंके बीचमें भीष्म, द्रोण तथा समस्त राजाओंके सामने उस श्रेष्ठ रथको खड़ा करके कहा, "पार्थ ! युद्धके लिये इकट्ठे हुए इन कौरवोंको देखो" ॥२४-२५॥]

(१) हे भारत—धृतराष्ट्र ! 'भारत' इस सम्बोधनका यह अभिप्राय है कि तुम भरतवंशकी मर्यादाका विचार करके ही इस बन्धुओंके विरोधको त्याग दो । गुडाका अर्थात् निद्राके ईश अर्थात् जिसने निद्राको जीत लिया है ऐसे सर्वत्र सावधान रहनेवाले अर्जुनके इस प्रकार कहनेपर भगवान् उसका यह दोष समझ कर कि मेरा सेवक होकर भी यह मुझे सारथीके काममें लगाये हुए है, न तो उसपर कुपित हुए और न उन्होंने उसे युद्धसे निवृत्त ही किया । किन्तु दोनों सेनाओंके बीचमें भीष्म और द्रोणके सामने तथा समस्त राजाओंके समक्ष वह रथोत्तम—अग्निका दिया हुआ दिव्य रथ अथवा जो सारथीरूपसे स्वयं भगवान् द्वारा अधिष्ठित होनेके कारण सबसे श्रेष्ठ था वह अर्जुनका रथ खड़ा करके हृषीकेशने—सबके छिपे हुए भावोंको जाननेवाले श्री भगवान्ने यह जानकर कि अर्जुनपर शोक-मोहका अधिकार होनेवाला है उपहास करते हुए उससे कहा । 'प्रमुख' यह शब्द आद्यादिगणमें है, इसलिये इसमें सार्वविभक्तिक 'तसि' प्रत्यय हुआ है । 'प्रमुखतः' शब्द यद्यपि 'भीष्म-द्रोण' के साथ समस्त है तो भी 'सर्वेषां च महीक्षिताम्' इस पदसमूहमें जो 'च' शब्द है उसके कारण इसे वहाँसे खींच लिया जाता है । भीष्म और द्रोणका अन्य सब राजाओंसे पृथक् उल्लेख उनकी अत्यन्त प्रधानता सूचित करनेके लिये है ।

(२) 'हे पार्थ'—इस सम्बोधनसे यह सूचित करके कि स्त्रीस्वभाव होनेके कारण जैसे पृथा शोक-मोहसे ग्रस्त है उसी प्रकार उससे सम्बन्ध रखनेवाले तेरे लिये भी उनसे युक्त होनेका अवसर आ गया है भगवान् अपनी हृषीकेशता दिखलाते हैं । तथा पृथा

१. 'हृषीक'—इन्द्रियोंकी 'ईशता'—स्वामित्व ।



दर्शनविध्यभिप्रायः । अहं सारथ्येऽतिसावधानस्त्वं तु सांप्रतमेव रथित्वं त्यक्ष्यसीति किं तव परसेनादर्शनेनेत्यर्जुनस्य धैर्यमापादयितुं पश्येत्येतावत्पर्यन्तं, भगवतो वाक्यम् । अन्यथा रथं सेनयोर्मध्ये स्थापयामासेत्येतावन्मात्रं ब्रूयात् ॥ २४-२५ ॥

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥ २६ ॥
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।

(१) तत्र समरसमारम्भार्थं सैन्यदर्शने भगवताऽभ्यनुज्ञाते सति सेनयोरुभयोरपि स्थितान्पार्थोऽपश्यदित्यन्वयः । अथशब्दस्तथाशब्दपर्यायः । परसेनायां पितॄन्पितृव्यान्भूरिश्रवःप्रभृतीन्पितामहान्भीष्मसोमदत्तप्रभृतीनाचार्यान्द्रोणकृपप्रभृतीन्मातुलाञ्शल्यशकुनिप्रभृतीन्भ्रातॄन्दुर्योधनप्रभृतीन्पुत्रालँक्ष्मणप्रभृतीन्पौत्रालँक्ष्मणादिपुत्रान्सखीनश्वत्थामजयद्रथप्रभृतीन्वयस्यान् , श्वशुरान्भार्याणां जनयितॄन् , सुहृदो मित्राणि कृतवर्मभगदत्तप्रभृतीन् । सुहृद इत्यनेन यावन्तः कृतोपकारा मातामहादयश्च ते द्रष्टव्याः । एवं स्वसेनायामप्युपलक्षणीयम् ।

(२) एवं स्थिते 'महानधर्मो हिंसे'ति विपरीतबुद्धया मोहाख्यया शास्त्रविहितत्वेन धर्मत्वमि-

मेरे पिताकी बहिन है और तू उसका पुत्र है—इस प्रकार अपना सम्बन्ध दिखाकर उसे ढाढस बँधाते हैं । भगवान्की इस दर्शनविधिका अभिप्राय यह है कि मेरे सारथ्यमें निश्चय रखकर तू युद्धकी इच्छासे एकत्रित हुए इन सभी कौरवोंको निःशंक होकर देख । मैं तो सारथीके काममें बहुत सावधान हूँ किन्तु तू अभी रथीका धर्म त्याग देगा, अतः इस शत्रुकी सेनाको देखनेसे तुझे क्या होगा—इस अभिप्रायसे अर्जुनको धैर्य बँधानेके लिये ही 'पश्य' यहाँ तक भगवान्का वाक्य है, नहीं तो 'सेनाओंके बीचमें रथ खड़ा कर दिया' केवल इतना ही कहा जाता ॥ २४-२५ ॥

[ श्लोकार्थः—तब उन दोनों ही सेनाओंमें अर्जुनने अपने पिता ( चाचा—ताऊ ), दादा, गुरु, मामा, भाई, भतीजे, पौत्र, मित्र, श्वसुर और सुहृदोंको खड़े देखा । ]

(१) तब युद्ध आरम्भ करनेकी दृष्टिसे भगवान्की सेना देखनेके लिये आज्ञा होने पर 'अर्जुनने दोनों ही सेनाओंमें खड़े हुए योद्धाओंको देखा' इस प्रकार इसका अन्वय करना चाहिये । यहाँ 'अथ' शब्द 'तथा' शब्दका पर्यायवाची है । उसने शत्रुओंकी सेनामें पिताओं को—भूरिश्रवा आदि पितृव्यों ( काकाओं ) को, भीष्म और सोमदत्त आदि दादाओंको, द्रोण और कृप आदि आचार्योंको, शल्य एवं शकुनि आदि मामाओंको, दुर्योधन आदि भाइयोंको, लक्ष्मण ( दुर्योधनके पुत्र ) आदि पुत्रोंको, पौत्र अर्थात् लक्ष्मणादिके पुत्रोंको, सखा अर्थात् अश्वत्थामा एवं जयद्रथ आदि समवयस्कोंको तथा सुहृद् यानी कृतवर्मा और भगदत्त आदि मित्रोंको देखा । 'सुहृद्' इस शब्दसे जिन-जिनने भी उपकार किया था उन नाना आदि सभी सम्बन्धियोंको समझ लेना चाहिये । इसी प्रकार अपनी सेनामें भी समझने चाहिये ।

(२) ऐसा होनेपर 'हिंसा महान् अधर्म है' ऐसी मोहसंज्ञक विपरीत बुद्धिसे तथा 'शास्त्रविहित होना ही धर्मका लक्षण है' इस ज्ञानको रोकनेवाली ममताजनित

सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ ! पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥

(१) हे भारत ! धृतराष्ट्र ! भरतवंशमर्यादामनुसंधायापि द्रोहं परित्यज ज्ञातीनामिति संबोधनाभिप्रायः । गुडाकाया निद्राया ईशेन जितनिद्रतया सर्वत्र सावधानेनार्जुनेनैवमुक्तो भगवानयं मद्भृत्योऽपि सारथ्ये मां नियोजयतीति दोषमासज्य नाकुप्यत्, न वा तं युद्धान्न्यवर्तयत्किंतु सेनयोरुभयोर्मध्ये भीष्मद्रोणप्रमुखतस्तयोः प्रमुखे संमुखे सर्वेषां महीक्षितां च संमुखे, आद्यादित्वात्सार्वविभक्तिकस्तसिः । चकारेण समासनिविष्टोऽपि प्रमुखतः शब्द आकृष्यते । भीष्मद्रोणयोः पृथक्कीर्तनमतिप्राधान्यसूचनाय । रथोत्तममग्निना दत्तं दिव्यं रथं भगवता स्वयमेव सारथ्येनाधिष्ठिततया च सर्वोत्तमं स्थापयित्वा [1]हृषीकेशः सर्वेषां निगूढाभिप्रायज्ञो भगवानर्जुनस्य शोकमोहावुपस्थिताविति विज्ञाय सोपहासमर्जुनमुवाच ।

(२) हे पार्थ पृथायाः स्त्रीस्वभावेन शोकमोहग्रस्ततया तत्संबन्धिनस्तवापि तद्वत्ता समुपस्थितेति सूचयन्हृषीकेशत्वमात्मनो दर्शयति । पृथा मम पितुः स्वसा तस्याः पुत्रोऽसीति संबन्धोल्लेखेन चाऽऽश्वासयति । मम सारथ्ये निश्चितो भूत्वा सर्वानपि समवेतान्कुरून्युयुत्सून्पश्य निःशङ्कतयेति

कृष्णने दोनों सेनाओंके बीचमें भीष्म, द्रोण तथा समस्त राजाओंके सामने उस श्रेष्ठ रथको खड़ा करके कहा, "पार्थ ! युद्धके लिये इकट्ठे हुए इन कौरवोंको देखो" ॥२४-२५॥]

(१) हे भारत—धृतराष्ट्र ! 'भारत' इस सम्बोधनका यह अभिप्राय है कि तुम भरतवंशकी मर्यादाका विचार करके ही इस बन्धुओंके विरोधको त्याग दो । गुडाका अर्थात् निद्राके ईश अर्थात् जिसने निद्राको जीत लिया है ऐसे सर्वत्र सावधान रहनेवाले अर्जुनके इस प्रकार कहनेपर भगवान् उसका यह दोष समझ कर कि मेरा सेवक होकर भी यह मुझे सारथीके काममें लगाये हुए है, न तो उसपर कुपित हुए और न उन्होंने उसे युद्धसे निवृत्त ही किया । किन्तु दोनों सेनाओंके बीचमें भीष्म और द्रोणके सामने तथा समस्त राजाओंके समक्ष वह रथोत्तम—अग्निका दिया हुआ दिव्य रथ अथवा जो सारथीरूपसे स्वयं भगवान् द्वारा अधिष्ठित होनेके कारण सबसे श्रेष्ठ था वह अर्जुनका रथ खड़ा करके हृषीकेशने—सबके छिपे हुए भावोंको जाननेवाले श्री भगवान्ने यह जानकर कि अर्जुनपर शोक-मोहका अधिकार होनेवाला है उपहास करते हुए उससे कहा । 'प्रमुख' यह शब्द आद्यादिगणमें है, इसलिये इसमें सार्वविभक्तिक 'तसि' प्रत्यय हुआ है । 'प्रमुखतः' शब्द यद्यपि 'भीष्म-द्रोण' के साथ समस्त है तो भी 'सर्वेषां च महीक्षिताम्' इस पदसमूहमें जो 'च' शब्द है उसके कारण इसे वहाँसे खींच लिया जाता है । भीष्म और द्रोणका अन्य सब राजाओंसे पृथक् उल्लेख उनकी अत्यन्त प्रधानता सूचित करनेके लिये है ।

(२) 'हे पार्थ'—इस सम्बोधनसे यह सूचित करके कि स्त्रीस्वभाव होनेके कारण जैसे पृथा शोक-मोहसे ग्रस्त है उसी प्रकार उससे सम्बन्ध रखनेवाले तेरे लिये भी उनसे युक्त होनेका अवसर आ गया है भगवान् अपनी हृषीकेशता दिखलाते हैं । तथा पृथा

१. 'हृषीक'—इन्द्रियोंकी 'ईशता'—स्वामित्व ।



दर्शनविध्यभिप्रायः । अहं सारथ्येऽतिसावधानस्त्वं तु सांप्रतमेव रथित्वं त्यक्ष्यसीति किं तव परसेनादर्शनेनेत्यर्जुनस्य धैर्यमापादयितुं पश्येत्येतावत्पर्यन्तं, भगवतो वाक्यम् । अन्यथा रथं सेनयोर्मध्ये स्थापयामासेत्येतावन्मात्रं ब्रूयात् ॥ २४-२५ ॥

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥ २६ ॥
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।

(१) तत्र समरसमारम्भार्थं सैन्यदर्शने भगवताऽभ्यनुज्ञाते सति सेनयोरुभयोरपि स्थितान्पार्थोऽपश्यदित्यन्वयः । अथशब्दस्तथाशब्दपर्यायः । परसेनायां पितॄन्पितृव्यान्भूरिश्रवःप्रभृतीन्पितामहान्भीष्मसोमदत्तप्रभृतीनाचार्यान्द्रोणकृपप्रभृतीन्मातुलाञ्शल्यशकुनिप्रभृतीन्भ्रातॄन्दुर्योधनप्रभृतीन्पुत्रान्लक्ष्मणप्रभृतीन्पौत्रान्लक्ष्मणादिपुत्रान्सखीनश्वत्थामजयद्रथप्रभृतीन्वयस्यान्, श्वशुरान्भार्याणां जनयितॄन्, सुहृदो मित्राणि कृतवर्मभगदत्तप्रभृतीन् । सुहृद इत्यनेन यावन्तः कृतोपकारा मातामहादयश्च ते द्रष्टव्याः । एवं स्वसेनायामप्युपलक्षणीयम् ।

(२) एवं स्थिते 'महानधर्मो हिंसे'ति विपरीतबुद्धया मोहाख्यया शास्त्रविहितत्वेन धर्मत्वमि-

मेरे पिताकी बहिन है और तू उसका पुत्र है—इस प्रकार अपना सम्बन्ध दिखाकर उसे ढाढस बँधाते हैं । भगवान्की इस दर्शनविधिका अभिप्राय यह है कि मेरे सारथ्यमें निश्चय रखकर तू युद्धकी इच्छासे एकत्रित हुए इन सभी कौरवोंको निःशंक होकर देख । मैं तो सारथीके काममें बहुत सावधान हूँ किन्तु तू अभी रथीका धर्म त्याग देगा, अतः इस शत्रुकी सेनाको देखनेसे तुझे क्या होगा—इस अभिप्रायसे अर्जुनको धैर्य बँधानेके लिये ही 'पश्य' यहाँ तक भगवान्का वाक्य है, नहीं तो 'सेनाओंके बीचमें रथ खड़ा कर दिया' केवल इतना ही कहा जाता ॥ २४-२५ ॥

[ श्लोकार्थः—तब उन दोनों ही सेनाओंमें अर्जुनने अपने पिता ( चाचा—ताऊ ), दादा, गुरु, मामा, भाई, भतीजे, पौत्र, मित्र, श्वसुर और सुहृदोंको खड़े देखा । ]

(१) तब युद्ध आरम्भ करनेकी दृष्टिसे भगवान्की सेना देखनेके लिये आज्ञा होने पर 'अर्जुनने दोनों ही सेनाओंमें खड़े हुए योद्धाओंको देखा' इस प्रकार इसका अन्वय करना चाहिये । यहाँ 'अथ' शब्द 'तथा' शब्दका पर्यायवाची है । उसने शत्रुओंकी सेनामें पिताओं को—भूरिश्रवा आदि पितृव्यों ( काकाओं ) को, भीष्म और सोमदत्त आदि दादाओंको, द्रोण और कृप आदि आचार्योंको, शल्य एवं शकुनि आदि मामाओंको, दुर्योधन आदि भाइयोंको, लक्ष्मण ( दुर्योधनके पुत्र ) आदि पुत्रोंको, पौत्र अर्थात् लक्ष्मणादिके पुत्रोंको, सखा अर्थात् अश्वत्थामा एवं जयद्रथ आदि समवयस्कोंको तथा सुहृद् यानी कृतवर्मा और भगदत्त आदि मित्रोंको देखा । 'सुहृद्' इस शब्दसे जिन-जिनने भी उपकार किया था उन नाना आदि सभी सम्बन्धियोंको समझ लेना चाहिये । इसी प्रकार अपनी सेनामें भी समझने चाहिये ।

(२) ऐसा होनेपर 'हिंसा महान् अधर्म है' ऐसी मोहसंज्ञक विपरीत बुद्धिसे तथा 'शास्त्रविहित होना ही धर्मका लक्षण है' इस ज्ञानको रोकनेवाली ममताजनित

तिज्ञानप्रतिबन्धकेन च ममकारनिबन्धनेन चित्तवैकुव्येन शोकाख्येनाभिभूतविवेकस्यार्जुनस्य पूर्वमारब्धाद्युद्धाख्यात्स्वधर्मादुपरिरंसा महानर्थपर्यवसायिनी वृत्तेति दर्शयति—

**तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥ २७ ॥**
**कृपया परयाऽऽविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।**

(१) कौन्तेय इति स्त्रीप्रभवत्वकीर्तनं पार्थवत्तात्त्विकमूढतामपेक्ष्य कृपया कर्त्र्या स्वव्यापारेणैवाऽऽविष्टो व्याप्तो न तु कृपां केनचिद्व्यापारेणाऽऽविष्ट इति स्वतः 'सिद्धैवास्य कृपेति सूच्यते । एतत्प्रकटीकरणाय परयेति विशेषणम् । अपरयेति वा छेदः । स्वसैन्ये पुराऽपि कृपाऽभूदेव तस्मिन्समये तु कौरवसैन्येऽप्यपरा कृपाऽभूदित्यर्थः । विषीदन्विषादमुपतापं प्राप्नुवन्नब्रवीदित्युक्तिविषादयोः समकालतां वदन्सगद्गदकण्ठताश्रुपातादि विषादकार्यमुक्तिकाले द्योतयति ।

शोकसंज्ञक चित्तकी व्याकुलतासे अर्जुनकी विवेकशक्ति दब गयी और उसमें—जिसका वह पहले आरम्भ कर चुका था उस—अपने धर्म-युद्धसे हटनेकी महान् अनर्थकारिणी इच्छा पैदा हो गयी—यह बात आगे दिखलाते हैं—

[ श्लोकार्थः—अर्जुनने उन सब बन्धुओंको युद्धके लिये खड़े देख बड़ी करुणासे भरकर विषाद करते हुए यह बात कही । ]

( १ ) 'कौन्तेय' इस शब्दसे अर्जुनका स्त्रीसे उत्पन्न होने का उल्लेख [ पचीसवें श्लोकके ] 'पार्थ' सम्बोधनके समान उसकी तात्त्विकी मूढता दिखानेकी दृष्टिसे है । कृपारूप कर्त्रीके अपने व्यापारसे ही आविष्ट—व्याप्त होकर, न कि कृपाको अपने किसी व्यापारसे व्याप्तकर—इससे यह सूचित होता है कि अर्जुनकी कृपा स्वतःसिद्धा थी । इसीको प्रकट करनेके लिये उसका 'परया' यह विशेषण दिया गया है । अथवा इसका 'अपरया' ऐसा पदच्छेद करना चाहिये । इसका अभिप्राय यह कि अपनी सेनापर तो उसकी पहले ही से कृपा थी उस समय दूसरी कृपा कौरव-सेनापर भी हुई । विषाद करते हुए अर्थात् सन्तापको प्राप्त होते हुए कहा—इस प्रकार अर्जुनके कथन और विषादकी समकालता बताकर सञ्जय कथनके समय कण्ठकी गद्गदता और अश्रुपातादि विषादके कार्योंको भी सूचित करता है ।

१. अर्जुन के हृदय में कृपा के आवेश को दो प्रकार से दिखाया जा सकता था—( १ ) कृपया आविष्टः ( कृपा से आविष्ट=व्याप्त ) और ( २ ) कृपामाविष्टः ( कृपा को प्राप्त होकर ), कृपा को प्रथम वाक्य में कर्त्ता और दूसरे वाक्य में कर्म बनाया गया है । उक्त श्लोक में प्रथम प्रकार को ही क्यों अपनाया ? द्वितीय प्रकार को क्यों नहीं ? इस जिज्ञासा का उत्तर देते हुए मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि कृपा को कर्त्ता बनाकर यह ध्वनित किया है कि वह कृपा स्वाभाविक या अनादि है । आशय यह है कि कृपा दो प्रकार की होती है—( १ ) दुःखी व्यक्तियों को देखकर उनके दुःखों को दूर करने की इच्छा ( करुणा ) और ( २ ) ममता से जन्य स्नेह विशेष । प्रथम कृपा आगन्तुक या अस्वाभाविक तथा द्वितीय स्वाभाविक कही जाती है; क्योंकि प्रथम का कारण दुःखी व्यक्तियों का दृष्टिपथ में आना आगन्तुक है और द्वितीय का कारण ममता अनादि है । अतः ममतारूप अनादि भाव से प्रयुक्त कृपा भी स्वाभाविक या अनादि कही जाती है । अर्जुन के हृदय में युयुत्सु बन्धुवर्ग को देख ममता जागी, उसने कृपा ( स्नेह ) को जगाया, यही भाव प्रासङ्गिक है और उचिततर है । युयुत्सु क्षत्रियगण भावी विजय-कल्पना से प्रफुल्लित थे. दुःखी नहीं, जिन्हें देखकर करुणा उत्पन्न



(१) तदेव भगवन्तं प्रत्यर्जुनवाक्यमवतारयति संजयोऽर्जुन उवाचेत्यादिना, 'एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये' इत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन । तत्र स्वधर्मप्रवृत्तिकारणीभूततत्त्वज्ञानप्रतिबन्धकः स्वपरदेह आत्मात्मीयाभिमानवतोऽनात्मविदोऽर्जुनस्य युद्धेन स्वपरदेहविनाशप्रसङ्गदर्शिनः शोको महानासीदिति तद्विङ्गकथनेन दर्शयति त्रिभिः श्लोकैः—

**अर्जुन उवाच—**

**दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥**
**सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।**
**वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥**
**गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।**
**न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥**

(२) इमं स्वजनमात्मीयं बन्धुवर्गं युद्धेच्छुं युद्धभूमौ चोपस्थितं दृष्ट्वा स्थितस्य मम पश्यतो ममेत्यर्थः । अङ्गानि व्यथन्ते । मुखं च परिशुष्यतीति श्रमादिनिमित्तशोषापेक्षयाऽतिशयकथनाय सर्वतोभाववाचिपरिशब्दप्रयोगः ।

(३) वेपथुः = कम्पः । रोमहर्षः = पुलकितत्वम् । गाण्डीवभ्रंशेनाधैर्यलक्षणं दौर्बल्यं त्वक्परि-

( १ ) अब 'अर्जुन उवाच' यहाँसे लेकर 'एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये' इत्यादि श्लोकसे पूर्वतकके ग्रन्थसे संजय भगवान्के प्रति अर्जुनके उस वाक्यका ही उल्लेख करता है । इसमें तीन श्लोकोंसे शोकके चिह्नोंका वर्णन करते हुए यह बात दिखायी गयी है कि अपने शरीरमें आत्मत्व और दूसरोंके शरीरोंमें आत्मीयत्वका अभिमान रखनेवाले अनात्मज्ञ अर्जुनको युद्धके द्वारा अपने और दूसरोंके देहोंके नाशका प्रसंग देखकर महान् शोक हुआ, जो स्वधर्ममें प्रवृत्ति होनेके हेतुभूत तत्त्वज्ञानका प्रतिबन्धक है ।

[ श्लोकार्थः—अर्जुनने कहा—श्रीकृष्ण ! युद्धके लिये उत्सुक अपने इन बन्धुओंको यहाँ उपस्थित देखकर मेरे अंगोंमें पीड़ा होती है, मुख सूखा जाता है, शरीरमें कम्प और रोमाञ्च हो रहा है, गाण्डीव हाथसे गिरा जाता है, त्वचामें सब ओर दाह हो रहा है और मैं अपने शरीरको स्थिर नहीं रख सकता-मेरे मनमें चक्कर सा आ रहा है २८-३० ]

( २ ) इन स्वजन—अपने बन्धुवर्गको युद्धके लिये इच्छुक और युद्धभूमिमें उपस्थित देखकर यहाँ ठहरे हुए मेरे अर्थात् इन सबको देखनेवाले मेरे अंगोंमें व्यथा होती है और मुख सूखा जाता है—इस प्रकार यहाँ श्रमादिजनित शोककी अपेक्षा अधिक शोक बतानेके लिये 'परिशुष्यति परिदह्यते' इन क्रियापदोंमें शोषण और दाहकी सब ओर सत्ता सूचित करनेवाले 'परि' उपसर्गका प्रयोग किया है ।

( ३ ) 'वेपथु' कम्पको और 'रोमहर्ष' रोमोंके खड़े होनेको कहते हैं । गाण्डीवके

होती । 'कृपामाविष्टः'—इस रूप से कृपा को कर्म बनाने पर 'अप्राप्त कृपा को अर्जुन ने प्राप्त किया'—यही अर्थ होता । इस प्रकार आगन्तुक कृपा ( करुणा ) का ही लाभ होता, जो कि प्रकृत में सम्भव नहीं, अतः कृपा को कर्त्ता बनाकर अनादि ममता-जन्य स्नेह विशेष रूप से ही सुव्यक्त किया है । यह भाव द्वितीय अध्याय के प्रथम श्लोक में और भी स्पष्ट होगा ।

दाहेन चान्तःसंतापो दर्शितः। अवस्थातुं शरीरं धारयितुं च न शक्नोमीत्यनेन मूर्च्छा सूच्यते। तत्र हेतुः—मम मनो भ्रमतीवेति। भ्रमणकर्तृसाद्दश्यं नाम मनसः कश्चिद्विकारविशेषो मूर्च्छायाः पूर्वावस्था। चो हेतौ। यत एवमतो नावस्थातुं शक्नोमीत्यर्थः॥ २८-३०॥

(१) पुनरप्यवस्थानासामर्थ्ये कारणमाह—

**निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।**
**न च श्रेयोऽनु पश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे॥ ३१॥**

(२) निमित्तानि च सूचकतयाऽऽसन्नदुःखस्य विपरीतानि वामनेत्रस्फुरणादीनि पश्यामि अनुभवामि। अतोऽपि नावस्थातुं शक्नोमीत्यर्थः। अहमनात्मविच्चेन दुःखित्वाच्छोकनिबन्धनं क्लेशमनुभवामि त्वं तु सदानन्दरूपत्वाच्छोकासंसर्गीति [1]कृष्णपदेन सूचितम्। अतः स्वजनदर्शने तुल्येऽपि शोकासंसर्गित्वलक्षणाद्विशेषात्त्वं मामशोकं कुर्विति भावः।

(३) केशवपदेन च तत्करणसामर्थ्यं को ब्रह्मा सृष्टिकर्ता, ईशो रुद्रः संहर्ता तौ वात्यनुकम्प्यतया गच्छतीति तद्व्युत्पत्तेः। भक्तदुःखकर्षित्वं वा कृष्णपदेनोक्तं केशवपदेन च केश्यादिगिरनेसे अधैर्यको सूचित करनेवाली दुर्बलता और त्वचाके दाहसे आन्तरिक सन्ताप दिखाये गये हैं। अवस्थान—शरीरको स्थिर रखना, इसमें भी मैं असमर्थ हूँ इससे मूर्च्छा सूचित होती है। इसमें कारण यह है कि मेरा मन घूम-सा रहा है। किसी घूमनेवाली वस्तुके समान होना मनका एक विकार है, जो मूर्च्छाकी पूर्वावस्था है। 'भ्रमतीव च' इसमें 'च' का प्रयोग हेतुअर्थमें हुआ है। क्योंकि मेरा मन ऐसा हो रहा है इसलिये मैं शरीरको स्थिर नहीं रख सकता—ऐसा इसका तात्पर्य है॥ २८-३०॥

(१) शरीरको स्थिर रखनेमें अपनी असमर्थताका कारण अर्जुन फिर भी बताता है—

[ श्लोकार्थः—केशव! मुझे विपरीत फलके सूचक अपशकुन भी दिखायी दे रहे हैं। अपने स्वजनोंको युद्धमें मारकर मुझे कोई श्रेय दिखायी नहीं देता॥ ३१॥ ]

(२) मुझे समीपवर्ती दुःखकी सूचना देनेवाले बायीं आँखका फड़कना आदि विपरीत निमित्त—अपशकुन भी दिखायी दे रहे अर्थात् अनुभवमें आ रहे हैं। तात्पर्य यह है कि इनके कारण भी मैं स्थिर नहीं रह सकता। अट्ठाईसवें श्लोकमें जो 'कृष्ण' पद है उससे यह सूचित किया है कि मैं तो अज्ञानी होनेके कारण दुःखी होनेसे शोकजनित क्लेशका अनुभव करता हूँ, किन्तु आप तो नित्यानन्दस्वरूप हैं, इसलिये आपका शोकसे संसर्ग ही नहीं हो सकता। अतः तात्पर्य यह है कि हम दोनोंको स्वजनदर्शन समानरूपसे होनेपर भी आपमें जो शोकसे संसर्ग न होनारूप विशेषता है उसके द्वारा आप मुझे भी शोकहीन कर दीजिये।

(३) 'केशव' पदसे भगवान्‌में ऐसा करनेका सामर्थ्य सूचित किया जाता है, क्योंकि 'क' सृष्टिकर्ता ब्रह्माको और 'ईश' संहारकारी रुद्रको कहते हैं; इन दोनोंके प्रति जो 'वाति' दयनीय होनेके कारण जाता है—ऐसी 'केशव' पदकी व्युत्पत्ति है। अथवा 'कृष्ण' पदसे भक्तोंके दुःखोंको खींचना बताया गया है और 'केशव' पदसे यह सूचित

---

१. 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥'

'कृष्ण' शब्दमें 'कृष्' सत्ताका वाचक है और 'ण' आनन्दका। इसीसे इनकी एकतारूप परब्रह्म 'कृष्ण' कहा जाता है—इस प्रमाणके अनुसार श्रीकृष्ण नित्यानन्दस्वरूप हैं।



दुष्टदैत्यनिबर्हणेन सर्वदा भक्तान्पालयसीत्यतो मामपि शोकनिवारणेन पालयिष्यसीति सूचितम्।

(१) एवं लिङ्गद्वारेण समीचीनप्रवृत्तिहेतुभूततत्त्वज्ञानप्रतिबन्धकीभूतं शोकमुक्त्वा संप्रति तत्कारितां विपरीतप्रवृत्तिहेतुभूतां विपरीतबुद्धिं दर्शयति—श्रेयः पुरुषार्थं दृष्टमदृष्टं वा बहुविचारणादनु पश्चादपि न पश्यामि अस्वजनमपि युद्धे हत्वा श्रेयो न पश्यामि।

'द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड्योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः'॥

इत्यादिना हतस्यैव श्रेयोविशेषाभिधानात्। हन्तुस्तु न किंचित्सुकृतम्। एवमस्वजनवधेऽपि श्रेयसोऽभावे स्वजनवधे सुतरां तदभाव इति ज्ञापयितुं स्वजनमित्युक्तम्। एवमनाहववधे श्रेयो नास्तीतिसिद्धसाधनवारणायाऽऽहव इत्युक्तम्॥ ३१॥

(२) ननु मा भूदृष्टं प्रयोजनं दृष्टप्रयोजनानि तु विजयो राज्यं सुखानि च निर्विवादानीत्यत आह—

**न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।**
**किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा॥ ३२॥**

(३) फलाकाङ्क्षा ह्युपायप्रवृत्तौ कारणम्। अतस्तदाकाङ्क्षाया अभावात्तदुपाये युद्धे भोजनेच्छाविरहिण इव पाकादौ मम प्रवृत्तिरनुपपन्नेत्यर्थः।

किया है कि आप केशी आदि दुष्टोंका दलन करके सर्वदा भक्तोंकी रक्षा करते आये हैं, अतः शोक दूर करके मेरी भी रक्षा करेंगे।

(१) इस प्रकार संकेतद्वारा समीचीन प्रवृत्तिके हेतुभूत तत्त्वज्ञानके प्रतिबन्धक शोकका वर्णन करके अब उससे की हुई विपरीत बुद्धिको, जो कि विपरीत प्रवृत्तिका कारण है, दिखाता है—मैं बहुत विचारनेके अनु-बाद भी कोई श्रेय-दृष्ट अथवा अदृष्ट किसी प्रकारका पुरुषार्थ नहीं देखता हूँ। मुझे तो जो स्वजन न हों उन्हें भी युद्धमें मारनेसे श्रेय दिखायी नहीं देता, क्योंकि 'इस लोकमें दो पुरुष सूर्यमण्डलका भेदन करनेवाले हैं—(१) योगयुक्त संन्यासी और (२) जो युद्धमें सम्मुख लड़ता हुआ मारा जाय' इस प्रमाणसे भी युद्धमें मरनेवालेके लिये ही श्रेयका विधान किया गया है, मारनेवालेके लिये तो कुछ भी सुकृत नहीं बताया। इस प्रकार जब अस्वजनके मारनेमें ही किसी प्रकारका श्रेय नहीं है तो स्वजनके मारनेमें तो हो ही नहीं सकता—यह सूचित करनेके लिये 'स्वजनोंको' ऐसा कहा है तथा युद्धके बिना मारनेमें भलाई नहीं ही है—इस प्रकार के सिद्ध-साधन निवृत्तिके लिये 'आहवे' (युद्धमें) ऐसा कहा है॥ ३१॥

(२) यदि कहो कि भले ही कोई अदृष्ट प्रयोजन न हो तथापि विजय, राज्य और सुख आदि दृष्ट प्रयोजनोंके होनेमें तो कोई सन्देह ही नहीं है—इस पर कहते हैं—

[ श्लोकार्थः—कृष्ण! मुझे विजयकी इच्छा नहीं है और न मैं राज्य एवं सुख ही चाहता हूँ। गोविन्द! भला हमें राज्यसे क्या प्रयोजन है? तथा भोग या जीवनसे भी क्या लेना है?॥ ३२॥ ]

(३) फलकी कामना ही किसी उपायमें प्रवृत्ति होनेका कारण है। अतः जिस प्रकार भोजन की इच्छासे रहित पुरुषकी पाकादिमें प्रवृत्ति नहीं होती, उसी प्रकार फलकी इच्छा न होनेसे मेरी भी उसके उपायभूत युद्धमें प्रवृत्ति होनी सम्भव नहीं है—ऐसा इसका तात्पर्य है।

(१) कुतः पुनरितरपुरुषैरिष्यमाणेषु तेषु तवानिच्छेत्यत आह—किं न इति। भोगैः सुखैर्जीवितेन जीवितसाधनेन विजयेनेत्यर्थः। विना राज्यं भोगान्कौरवविजयं च वने निवसतामस्माकं तेनैव जगति श्लाघनीयजीवितानां किमेभिराकाङ्क्षितैरिति भावः। गोशब्दवाच्यानीन्द्रियाण्यधिष्ठानतया नित्यं प्राप्तस्त्वमेव ममैहिकफलविरागं जानासीति सूचयन्संबोधयति—गोविन्देति ॥ ३२ ॥

(२) राज्यादीनामाक्षेपे हेतुमाह—

**येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।**
**त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥**

(३) एतेन स्वस्य वैराग्येऽपि स्वीयानामर्थे यतनीयमित्यपास्तम्। एकाकिनो हि राज्याद्यनपेक्षितमेव। येषां तु बन्धूनामर्थे तदपेक्षितं त एते प्राणान्प्राणाशां धनानि धनाशां च त्यक्त्वा युद्धेऽवस्थिता इति न स्वार्थः स्वीयार्थो वाऽयं प्रयत्न इति भावः। भोगशब्दः पूर्वत्र सुखपरतया निर्दिष्टोऽप्यत्र पृथक्सुखग्रहणात्सुखसाधनविषयपरः। प्राणधनशब्दौ तु तदाशालक्षकौ। स्वप्राणत्यागेऽपि स्वबन्धूनामुपभोगाय धनाशा संभवेदिति तद्वारणाय पृथग्धनग्रहणम् ॥ ३३ ॥

(४) येषामर्थे राज्याद्यपेक्षितं तेऽत्र नाऽऽगता इत्याशङ्क्य तान्विशिनष्टि—

---

( १ ) 'दूसरे लोग तो इनकी इच्छा करते हैं, फिर तेरी इच्छा क्यों नहीं है ?' ऐसा यदि श्रीकृष्ण प्रश्न करें तो अर्जुन 'किं नः' इत्यादिसे इसका उत्तर देता है। भोगोंसे—सुखोंसे और जीवितसे—जीवनके साधन विजयसे हमें क्या प्रयोजन है ? तात्पर्य यह है कि बिना राज्य, भोग और कौरवोंपर विजय पाये वनमें निवास करनेसे ही जगत्में हमारा जीवन प्रशंसनीय था, फिर हमें इनकी इच्छा करनेसे क्या प्रयोजन है ? आप अधिष्ठानरूपसे गोशब्दवाच्य इन्द्रियोंको नित्य प्राप्त हैं, इसलिये मेरे लौकिक फलसम्बन्धी वैराग्यको जानते ही हैं—यह सूचित करनेके लिये उन्हें 'गोविन्द' ऐसा कहकर सम्बोधन करता है ॥ ३२ ॥

( २ ) राज्यादिकी अपेक्षा न होनेमें कारण बताता है—

[ श्लोकार्थः—जिनके लिये हमें राज्य, भोग और सुखोंकी इच्छा थी वे हमारे ये बन्धुजन तो अपने प्राण और धनका मोह त्यागकर युद्धमें खड़े हुए हैं ॥ ३३ ॥ ]

( ३ ) इस श्लोकद्वारा 'अपनेको वैराग्य होनेपर भी अपने बन्धुओंके लिये तो प्रयत्न करना ही चाहिये' इस बात का भी निराकरण किया गया है। अकेले व्यक्तिको तो राज्यादिकी अपेक्षा हुआ ही नहीं करती। जिन अपने बन्धुओंके लिये इनकी अपेक्षा होती है वे तो प्राणोंको-प्राणोंकी आशाको और धनोंको-धनकी आशाको त्यागकर युद्धमें खड़े हुए हैं। अतः तात्पर्य यह है कि इस प्रयत्नका न तो मेरे लिये और न मेरे आत्मीयोंके लिये ही कोई प्रयोजन है। ऊपर बत्तीसवें श्लोकमें 'भोग' शब्द सुखपरक बताया है, यहाँ सुखका अलग उल्लेख किया है, इसलिये इसे सुखके साधनभूत विषयोंका वाचक समझना चाहिये। 'प्राण' और 'धन' शब्द उनकी आशाको लक्षित करते हैं। अपने प्राण छूट जानेपर भी अपने बन्धुओंके उपयोगकी दृष्टिसे धनाशा तो रह ही सकती है, अतः उसका भी निषेध करनेके लिये धनका पृथक् ग्रहण किया है ॥ ३३ ॥

( ४ ) 'जिनके लिये राज्यादिकी अपेक्षा है वे तो यहाँ आये नहीं हैं' ऐसी श्रीकृष्णकी ओरसे आशंका करके उनका विशेषरूपसे उल्लेख करता है—



**आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।**
**मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा ॥ ३४ ॥**

(१) स्पष्टम् ॥ ३४ ॥

(२) ननु यदि कृपया त्वमेतान्न हंसि तर्हि त्वामेते राज्यलोभेन हनिष्यन्त्येवातस्त्वमेवैतान् हत्वा राज्यं भुङ्क्ष्वेत्यत आह—

**एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।**
**अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥**

(३) त्रैलोक्यराज्यस्यापि हेतोस्तत्प्राप्त्यर्थमपि अस्मान्न्नतोऽप्येतान्न हन्तुमिच्छामीच्छामपि न कुर्यामहं किं पुनर्हन्यां, महीमात्रप्राप्तये तु न हन्यामिति किमु वक्तव्यमित्यर्थः। [1]मधुसूदनेति संबोधयन्वैदिकमार्गप्रवर्तकत्वं भगवतः सूचयति ॥ ३५ ॥

(४) नन्वन्यान्विहाय धार्तराष्ट्रा एव हन्तव्यास्तेषामत्यन्तक्रूरतरतत्तद्दुःखदातॄणां वधे प्रीतिसंभवादित्यत आह—

**निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।**
**पापमेवाऽऽश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥**

---

[ श्लोकार्थः—आचार्य, पिता, पुत्र और पितामह तथा मामा, ससुर, पौत्र, साले एवं अन्य सम्बन्धी—ये सब इस युद्धमें प्राण त्यागनेके लिये उपस्थित हैं ॥ ३४ ॥ ]

( १ ) इसका अर्थ स्पष्ट है ॥ ३४ ॥

( २ ) किन्तु यदि करुणावश तुम इन्हें नहीं मारोगे तो भी राज्यके लोभसे ये तो तुम्हें मार ही देंगे, इसलिये तुम्हीं इन्हें मारकर राज्य भोगो—ऐसी यदि कृष्ण आशंका करें तो अर्जुन कहता है—

[ श्लोकार्थः—मधुसूदन ! ये मुझे मारें तो भी मैं, पृथिवीके लिये तो क्या, त्रिलोकीके राज्यके लिये भी इन्हें मारना नहीं चाहता ॥ ३५ ॥ ]

( ३ ) त्रिलोकीके राज्यके लिये भी अर्थात् त्रिलोकीका राज्य पानेके लिये भी मैं, इनके मारनेपर भी, इन्हें मारना नहीं चाहता—मारनेकी तो बात ही क्या मैं तो मारनेकी इच्छा भी नहीं कर सकता। ऐसी अवस्थामें केवल पृथ्वीके लिये नहीं मारूँगा—इसमें तो कहना ही क्या है ?—ऐसा इसका तात्पर्य है। मधुसूदन—ऐसा सम्बोधन करके भगवान्का वैदिकमार्गप्रवर्तकत्व सूचित करता है ॥ ३५ ॥

( ४ ) अच्छा, और सबको छोड़कर केवल धृतराष्ट्रके पुत्रोंको तो मारना ही चाहिये, क्योंकि उन्होंने तरह-तरहके अत्यन्त कठोर दुःख दिये हैं, इसलिये उन्हें मारनेसे तो प्रसन्नता हो ही सकती है—ऐसा यदि भगवान् कहें तो अर्जुन कहता है—

[ श्लोकार्थः—जनार्दन ! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी ? इन आततायियोंकी हत्या करनेसे तो पाप ही हमारे हाथ लगेगा ॥ ३६ ॥ ]

---

१. मधुदैत्य ब्रह्माजीके पाससे वेदोंको हर ले गया था। उसे मत्स्यरूपसे मारकर भगवान्ने वेदोंका उद्धार किया। इसलिये 'मधुसूदन' सम्बोधनसे उनका वैदिकमार्गप्रवर्तकत्व सूचित होता है।

(१) धार्तराष्ट्रान्दुर्योधनादीन्भ्रातॄन्निहत्य स्थितानामस्माकं का प्रीतिः स्यात् , न काऽपीत्यर्थः । नहि मूढजनोचितक्षणमात्रवर्तिसुखाभासलोभेन चिरतरनरकयातनाहेतुर्बन्धुवधोऽस्माकं युक्त इति भावः । जनार्दनेतिसंबोधनेन यदि वध्या एते तर्हि त्वमेवैताञ्जहि प्रलये सर्वजनहिंसकत्वेऽपि सर्वपापासंसर्गित्वादिति सूचयति । ननु—

'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारापहारी च षडेते आततायिनः' ॥

इति स्मृतेरेतेषां च सर्वप्रकारैराततायित्वात् ,

(२) 'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।
नाऽऽततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन' ॥

इति वचनेन दोषाभावप्रतीतेर्हन्तव्या एव दुर्योधनादय आततायिन इत्याशङ्क्याऽऽह—पापमेवेति । एतानाततायिनोऽपि हत्वा स्थितानस्मान्पापमाश्रयेदेवेति संबन्धः । अथवा पापमेवाऽऽश्रयेन्न किंचिदन्यद्दृष्टमदृष्टं वा प्रयोजनमित्यर्थः । 'न हिंस्यात्' इति धर्मशास्त्रादाततायिनं हन्यादित्यर्थशास्त्रस्य दुर्बलत्वात् । तदुक्तं याज्ञवल्क्येन—

'स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान्व्यवहारतः ।
अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः' इति ॥

(३) अपरा व्याख्या—ननु धार्तराष्ट्रान्हतां भवतां प्रीत्यभावेऽपि युष्मान् हतां धार्तराष्ट्राणां

(१) धार्तराष्ट्रोंको—दुर्योधन आदि अपने भाइयोंको मारकर बचे रहनेपर भी हमें क्या प्रसन्नता होगी ? अर्थात् कुछ भी प्रसन्नता नहीं होगी। तात्पर्य यह है कि मूढजनोचित क्षणमात्र रहनेवाले सुखाभासके लोभसे हमें दीर्घकालीन नरकयातनाओंकी प्राप्ति करानेवाला बन्धु-वध करना उचित नहीं है। 'जनार्दन' इस सम्बोधनसे यह सूचित करता है कि यदि ये वधके योग्य हैं तो आप ही इन्हें मारिये, क्योंकि आप प्रलयकालमें सब जीवोंका संहार कर देनेपर भी सब प्रकारके पाप संसर्गसे दूर रहते हैं।

(२) 'आग लगानेवाला, विष देनेवाला, शस्त्र लेकर आक्रमण करनेवाला, धन लूटनेवाला तथा खेती और स्त्रीको छीन लेनेवाला—ये छः आततायी हैं' इस स्मृतिके अनुसार ये धृतराष्ट्र-पुत्र तो सभी प्रकार आततायी हैं, और 'आततायी सामने आवे तो उसे बिना विचारे मार ही डाले। आततायीको मारनेसे मारनेवालेको कोई दोष नहीं होता' इस वचनके अनुसार आततायीके वधमें कोई दोष भी नहीं जान पड़ता, इसीलिये ये दुर्योधनादि आततायी तो मारनेके ही योग्य हैं—ऐसी भगवान्‌की ओरसे आशंका करके अर्जुन कहता है—'पापमेव' इत्यादि। इन आततायियोंको मारकर बच रहनेपर पाप ही हमारे हाथ लगेगा—ऐसा इसका सम्बन्ध है। अथवा इसका यह अर्थ हो सकता है कि इन्हें मारनेसे केवल पाप ही हाथ लगेगा, कोई अन्य दृष्ट या अदृष्ट प्रयोजन तनिक भी सिद्ध नहीं होगा क्योंकि 'किसी की हिंसा न करे' इस धर्मशास्त्रकी अपेक्षा 'आततायीको मार डाले' यह अर्थशास्त्र दुर्बल है। याज्ञवल्क्यजीने भी ऐसा ही कहा है—'दो स्मृतियोंका विरोध होनेपर वृद्धजनोंका व्यवहार ही न्यायतः बलवान् होता है। मर्यादा ऐसी है कि अर्थशास्त्रकी अपेक्षा धर्मशास्त्र बलवान् होता है।'

(३) दूसरी व्याख्या इस प्रकार हो सकती है—धृतराष्ट्रपुत्रों को मारनेसे तुम्हें भले ही प्रसन्नता न हो तथापि तुम लोगोंको मारकर उन्हें तो प्रसन्नता होगी ही, इसलिये



प्रीतिरस्त्येवातस्ते युष्मान्हन्युरित्यत आह—पापमेवेति । अस्मान्हत्वा स्थितानेतानाततायिनो धार्तराष्ट्रान्पूर्वमपि पापिनः सांप्रतमपि पापमेवाऽऽश्रयेन्नान्यत्किंचित्सुखमित्यर्थः । तथा चायुध्यतोऽस्मान्हत्वैत एव पापिनो भविष्यन्ति नास्माकं काऽपि क्षतिः पापासंबन्धादित्यभिप्रायः ॥ ३६ ॥

(१) फलाभावादनर्थसंभवाच्च परहिंसा न कर्तव्येति 'नच श्रेयोऽनुपश्यामी'त्यारभ्योक्तं, तदुपसंहरति—

**तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।**
**स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥**

(२) अदृष्टफलाभावोऽनर्थसंभवश्च तच्छब्देन परामृश्यते । दृष्टसुखाभावमाह—स्वजनं हीति । [1]माधवेति लक्ष्मीपतित्वान्नालक्ष्मीके कर्मणि प्रवर्तयितुमर्हसीति भावः ॥ ३७ ॥

(३) कथं तर्हि परेषां कुलक्षये स्वजनहिंसायां च प्रवृत्तिस्तत्राऽऽह—

**यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।**
**कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥**

(४) लोभोपहतबुद्धित्वाच्चेषां कुलक्षयादिनिमित्तदोषप्रतिसंधानाभावात्प्रवृत्तिः संभवतीत्यर्थः । अत एव भीष्मादीनां शिष्टानां बन्धुवधे प्रवृत्तत्वाच्छिष्टाचारत्वेन वेदमूलत्वादितरेषामपि तत्प्रवृत्तिरु-

वे तुम्हें मार डालेंगे—ऐसी आशंका करके अर्जुन कहता है—'पापमेव' इत्यादि। हमें मारकर बच रहनेपर इन आततायी धृतराष्ट्रपुत्रोंके—जो पहले भी पापी ही हैं—अब भी केवल पाप ही पल्ले पड़ेगा उन्हें कोई सुख नहीं मिल सकता—ऐसा इसका तात्पर्य है। फलतः युद्ध न करनेपर भी यदि ये हमें मार डालेंगे तो ये ही पापके भागी होंगे, पापका सम्बन्ध न होनेके कारण हमारी तो कोई हानि होगी नहीं ऐसा इसका अभिप्राय है ॥३६॥

(१) कोई फल न होनेसे और अनर्थकी सम्भावना होनेसे परहिंसा नहीं करनी चाहिये—ऐसा जो 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि' इस श्लोकसे आरम्भ करके कहा है उसका अब उपसंहार करते हैं—

[ श्लोकार्थः—अतः हमें अपने बन्धु धृतराष्ट्रपुत्रोंका वध करना उचित नहीं है, क्योंकि हे माधव ! हम स्वजनों को मारकर किस प्रकार सुखी हो सकते हैं ? ॥ ३७ ॥ ]

(२) 'तस्मात्' इस तत् शब्दसे अदृष्ट फलके अभाव और अनर्थकी सम्भावनाका परामर्श किया गया है तथा 'स्वजनं हि' इत्यादिसे दृष्टसुखका अभाव बताया है। 'माधव' इस सम्बोधनका भाव यह है कि आप लक्ष्मीके पति होनेके कारण मुझे अलक्ष्मीकी प्राप्ति करानेवाले कार्यमें प्रवृत्त नहीं कर सकते ॥ ३७ ॥

(३) 'तो फिर तुम्हारे शत्रुओंके कुलके संहार और स्वजनोंकी हिंसामें प्रवृत्ति क्यों है ?' ऐसी आशंका करके अर्जुन कहता है—

[ श्लोकार्थः—यद्यपि लोभसे बुद्धि मारी जानेके कारण ये कुलक्षयसे होनेवाले दोष और मित्रद्रोहजनित पापको नहीं देखते ॥ ३८ ॥ ]

(४) तात्पर्य यह है कि लोभसे बुद्धि मारी जानेके कारण कुलक्षयादिसे होनेवाले दोषपर दृष्टि न डालनेसे इनकी इसमें प्रवृत्ति हो सकती है। अतः भीष्मादि शिष्ट पुरुषोंकी

१. 'मा' शब्द लक्ष्मीका और 'धव' पतिका वाचक है। इसलिये 'माधव' का अर्थ लक्ष्मीपति है।

चितेत्यपास्तं 'हेतुदर्शनाच्च' ( जै० सू० १ । ३ । ४ ) इतिन्यायात् । तत्र हि लोभादिहेतुदर्शने वेदमूलत्वं न कल्प्यत इति स्थापितम् । यद्यप्येते न पश्यन्ति तथाऽपि कथमस्माभिर्न ज्ञेयमित्युत्तरश्लोकेन संबन्धः ॥ ३८ ॥

(१) ननु यद्यप्येते लोभात्प्रवृत्तास्तथाऽपि 'आहूतो न निवर्तेत द्यूतादपि रणादपि' इति 'विजितं क्षत्रियस्य' इत्यादिभिः क्षत्रियस्य युद्धं धर्मो युद्धार्जितं च धर्म्यं धनमिति धर्मशास्त्रे निश्चयाद्भवतां च तैराहूतत्वाद्युद्धे प्रवृत्तिरुचितैवेति शङ्क्याऽऽह—

**कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।**
**कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥**

(२) अस्मात्पापाद्बन्धुवधफलकयुद्धरूपात् । अयमर्थः—श्रेयःसाधनताज्ञानं हि प्रवर्तकं, श्रेयश्च तद्यदश्रेयोऽननुबन्धि, अन्यथा श्येनादीनामपि धर्मत्वापत्तेः । तथा चोक्तं—

बन्धुवधमें प्रवृत्ति होनेसे शिष्टाचाररूप होनेके कारण यह प्रवृत्ति वेदमूलक ठहरती है, इसलिये दूसरोंकी भी ऐसी प्रवृत्ति होनी उचित ही है—इस बातका 'हेतुदर्शनाच्च' ( पू. मी. १।३।४ ) इस न्यायसे[1] निराकरण कर दिया । वहाँ यह निश्चित किया गया है कि लोभादि हेतु देखनेपर वेदमूलकता नहीं मानी जा सकती । यद्यपि ये लोग नहीं देखते, तथापि हमें क्यों न जानना चाहिये ? इस प्रकार इसका आगेके श्लोकसे सम्बन्ध है ॥३८॥

( १ ) यद्यपि ये लोग तो लोभसे ही युद्धमें प्रवृत्त हुए हैं तथापि 'पुकारे जानेपर जूए और युद्धसे पीठ न दिखावे' तथा 'जो धन जीतमें मिले वह क्षत्रियका होता है' इत्यादि वाक्योंके अनुसार युद्ध क्षत्रियका धर्म है और युद्ध द्वारा प्राप्त किया हुआ धन भी धर्मानुकूल माना गया है—ऐसा शास्त्रमें निश्चय किया जानेके कारण शत्रुओं द्वारा युद्धके लिये पुकारे जानेसे तुम्हारी उसमें प्रवृत्ति होनी उचित ही है—ऐसी आशंका करके अर्जुन कहता है—

[ श्लोकार्थः—तथापि हे जनार्दन ! कुलक्षयसे होनेवाले दोषको देखते हुए भी हमें इस पापसे दूर रहनेकी समझ क्यों नहीं होनी चाहिये ? ॥ ३९ ॥ ]

( २ ) बन्धुवध ही जिसका परिणाम है ऐसे इस युद्धरूप पापसे । इसका भाव

१. यहाँ 'न्याय' का अर्थ है—अधिकरण । किसी सन्दिग्धार्थक वैदिक या वेदमूलक वाक्यके निर्णायक शब्द सन्दर्भका नाम अधिकरण है । प्रत्येक अधिकरणके पाँच अंग होते हैं—( १ ) विषय, ( २ ) संशय, ( ३ ) पूर्वपक्ष, ( ४ ) उत्तरपक्ष और ( ५ ) प्रयोजन । अर्थात् किसी वाक्यादिको विषय बनाकर उसपर संशय किया जाता है कि यह प्रमाण है ? या नहीं ? संशयके अनन्तर पूर्वपक्ष और पूर्वपक्षके पश्चात् उत्तरपक्ष दिखाया जाता है, अन्तमें प्रयोजन दिखाया जाता है । पूर्वमीमांसा ( १।३।२ ) में 'वैसर्जनहोमोयं वासोऽध्वर्युर्गृह्णाति' ( दीक्षा-विसर्जनार्थ किये जानेवाले होमके समय वितानित वस्त्रका ग्रहण ( दान ) अध्वर्यु लेता है ) इस वाक्यपर सन्देह किया गया है कि यह वाक्य प्रमाण हैं ? या नहीं ? पूर्वपक्षीने कहा है कि यद्यपि यह वैदिक वाक्य नहीं, तथापि वेदमूलक स्मृति वाक्य होनेसे प्रमाण है । सिद्धान्तपक्षमें कहा गया है—'लोभदर्शनाच्च' (जै० सू० १।३।४) अर्थात् उक्त वाक्यके मूलमें लोभ प्रतीत होता है—किसी लोभी अध्वर्युने अपने लाभको दृष्टिमें रखकर इस वाक्यका प्रणयन कर डाला है, अतः यह वाक्य वेदमूलक नहीं, अपितु लोभमूलक है, इसलिये प्रमाण नहीं । जैसे लोभमूलक स्मृतिवाक्य धर्ममें प्रमाण नहीं, वैसे ही लोभमूलक आचार भी प्रमाण नहीं होता । भीष्मादिका युद्धोद्यमरूप आचार लोभमूलक है, अतः वह सर्वथा अप्रमाण है ।



'फलतोऽपि च यत्कर्म नानर्थेनानुबध्यते ।
केवलप्रीतिहेतुत्वात्तद्धर्म इति कथ्यते' इति ॥ ( श्लो० वा० २।२६८-६९ )

ततश्चाश्रेयोनुबन्धितया शास्त्रप्रतिपादितेऽपि श्येनादाविवास्मिन्युद्धेऽपि नास्माकं प्रवृत्तिरुचितेति ॥ ३९ ॥

(१) एवं च विजयादीनामश्रेयस्त्वेनानाकाङ्क्षितत्वान्न तदर्थं प्रवर्तितव्यमिति द्रढयितुमनर्थानुबन्धित्वेनाश्रेयस्त्वमेव प्रपञ्चयन्नाह—

**कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।**
**धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥**

(२) सनातनाः परम्पराप्राप्ताः कुलधर्माः कुलोचिता धर्माः कुलक्षये प्रणश्यन्ति कर्तुरभावात् । उतापि अग्निहोत्राद्यनुष्ठातृपुरुषनाशेन धर्मे नष्टे जात्यभिप्रायमेकवचनम् , अवशिष्टं बालादिरूपं कृत्स्नमपि कुलमधर्मोऽभिभवति स्वाधीनतया व्याप्नोति । उतशब्दः कृत्स्नपदेन संबध्यते ॥ ४० ॥

**अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।**
**स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥**

(३) अस्मदीयैः पतिभिर्धर्ममतिक्रम्य कुलक्षयः कृतश्चेदस्माभिरपि व्यभिचारे कृते को दोषः

यह है कि श्रेयःसाधनताका ज्ञान ही किसी कर्ममें प्रवृत्तिका कारण होता है और श्रेय वह है जिसके परिणाममें अश्रेय ( अकल्याण ) न हो । नहीं तो श्येनयाग आदि अभिचार भी धर्म मान लिये जायँगे । ऐसा ही कहा भी है—'जो कर्म परिणाममें भी अनर्थसे युक्त नहीं होता वही केवल प्रीतिका कारण होनेसे धर्म कहा जाता है ।' अतः परिणाममें अकल्याणमय होनेके कारण, श्येनयागादिके समान शास्त्रविहित होनेपर भी इस युद्धमें हमारी प्रवृत्ति होनी उचित नहीं है ॥ ३६ ॥

( १ ) इस प्रकार अकल्याणमय होनेके कारण विजय आदि अवाञ्छनीय हैं और उनके लिये प्रयत्न भी नहीं करना चाहिये—इसी बातको पुष्ट करनेके लिये अनर्थपरिणामीरूपसे उनकी अकल्याणमयताको ही स्पष्ट करता हुआ कहता है—

[ श्लोकार्थः—कुलका नाश होनेसे वंशपरंपरागत कुलधर्मोंका नाश हो जाता है और धर्मका नाश होनेपर शेष सारे कुलपर अधर्म अपना अधिकार जमा लेता है ॥ ४० ॥ ]

( २ ) कुलका नाश होने पर कोई करनेवाला न रहनेके कारण सनातन-वंश परम्परासे आये हुए कुलधर्म—कुलोचित धर्म नष्ट हो जाते हैं । 'उत'का प्रयोग 'अपि'के अर्थमें हुआ है । अग्निहोत्रादिका अनुष्ठान करनेवाले पुरुषोंका नाश हो जाने पर धर्मका उच्छेद हो जानेसे बचे हुए बालक आदि सारे ही कुलको अधर्म अभिभूत कर देता है अर्थात् स्वतन्त्रतासे उसमें व्याप्त हो जाता है । इस प्रकार 'उत' शब्दका 'कृत्स्न' पद से सम्बन्ध है । 'धर्मे' इस पद में जातिके अभिप्रायसे एक वचनका प्रयोग हुआ है ॥ ४० ॥

[ श्लोकार्थः—हे वृष्णिनन्दन कृष्ण ! कुलके अधर्मसे आक्रान्त हो जानेपर कुलकामिनियाँ दूषित हो जाती हैं और स्त्रियोंके दूषित होनेसे सन्तति वर्णसङ्कर हो जाती है ॥४१॥ ]

( ३ ) अर्थात् जब हमारे पतियोंने ही धर्मका उल्लङ्घन करके कुलका नाश कर दिया तो हमारे व्यभिचार करनेसे क्या दोष होगा ? इस प्रकारके कुतर्कमें फँसकर कुलकी

स्यादित्येवं कुतर्कहताः कुलस्त्रियः प्रदुष्येयुरित्यर्थः । अथवा कुलक्षयकारिपतितपतिसंबन्धादेव स्त्रीणां दुष्टत्वम् । 'आ शुद्धेः संप्रतीक्ष्यो हि महापातकदूषितः' ( याज्ञ० स्मृ० ३।७७ ) इत्यादिस्मृतेः ॥४१॥

**संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।**
**पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदक्रियाः ॥ ४२ ॥**

(१) कुलस्य संकरश्च कुलघ्नानां नरकायैव भवतीत्यन्वयः । न केवलं कुलघ्नानामेव नरकपातः किं तु तत्पितृणामपीत्याह—**पतन्तीति** । हिशब्दोऽप्यर्थे हेतौ वा । पुत्रादीनां कर्तृणामभावाल्लुप्ता पिण्डस्योदकस्य च क्रिया येषां ते तथा । कुलघ्नानां पितरः पतन्ति नरकायैवेत्यनुषङ्गः ॥४२॥

**दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।**
**उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥**

(२) जातिधर्माः क्षत्रियत्वादिनिबन्धनाः कुलधर्मा असाधारणाश्च । एतैर्दोषैरुत्साद्यन्त उत्सन्नाः क्रियन्ते विनाश्यन्त इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

**उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।**
**नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥**

स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं । अथवा कुलका नाश करनेवाले पतित पतिसे सम्बन्ध रखनेके कारण ही स्त्रियोंमें दुष्टता आ जाती है, क्योंकि 'प्रायश्चित द्वारा शुद्ध होने तक महापापसे दूषित पुरुषकी प्रतीक्षा करनी चाहिये, [ अर्थात् उससे सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये ] ऐसी स्मृति की आज्ञा है ॥ ४१ ॥

[ श्लोकार्थः—कुलकी सङ्करता उन कुलघातियोंके नरकका ही कारण होती है, क्योंकि पिण्डदान और तर्पणकी क्रियाओंका लोप हो जानेसे उनके पितर नरकमें गिरते हैं ॥ ४२ ॥ ]

( १ ) वर्णसंकर सन्तान अपने कुल और कुलघातियोंके नरकका ही कारण होती है—इस प्रकार इसका अन्वय करना चाहिये । इससे केवल उन कुलघातियोंका ही नरकमें पतन नहीं होता, बल्कि उनके पितरोंका भी होता है—यह बात 'पतन्ति' इत्यादि वाक्यसे कही है । यहाँ 'हि' शब्द का 'अपि' अर्थमें अथवा हेतुमें प्रयोग हुआ है । पुत्रादि करनेवालोंका अभाव होनेसे जिनकी पिण्ड और तर्पणकी क्रियाएँ लुप्त हो गयी हैं वे उन कुलघातियोंके पितर नरकमें ही गिरते हैं—इस प्रकार 'पतन्ति' इस क्रियापदका 'नरकायैव' इस शब्द के साथ सम्बन्ध है ॥ ४२ ॥

[ श्लोकार्थः—उन वर्णसङ्करता करनेवाले कुलघातियोंके इन दोषोंसे सनातन जातिधर्म और कुलधर्मोंका उच्छेद हो जाता है ॥ ४३ ॥ ]

( २ ) जातिधर्म—क्षत्रियत्व आदिके कारण होनेवाले धर्म और कुलधर्म कुलके विशेष धर्म इन दोषोंके कारण उत्सादित—उत्सन्न कर दिये जाते हैं अर्थात् विनष्ट हो जाते हैं ॥ ४३ ॥

[ श्लोकार्थः—जनार्दन ! इस प्रकार जिनके कुलधर्मोंका उच्छेद हो जाता है उन मनुष्योंका तो निश्चय नरकमें ही वास होता है—यह बात हम सुनते आये हैं ॥ ४४ ॥ ]



(१) ततश्च प्रेतत्वपरावृत्तिकारणाभावान्नरक एव निरन्तरं वासो भवति ध्रुवमित्यनुशुश्रुमाऽऽचार्याणां मुखाद्वयं श्रुतवन्तो न स्वाभ्यूहेन कल्पयाम इति पूर्वोक्तस्यैव दृढीकरणम् ॥ ४४ ॥

(२) बन्धुवधपर्यवसायी युद्धाध्यवसायोऽपि सर्वथा पापिष्ठतरः किं पुनर्युद्धमिति वक्तुं तदध्यवसायेनाऽऽत्मानं शोचन्नाह—

**अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।**
**यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥**

(३) यदीदृशी ते बुद्धिः कुतस्तर्हि युद्धाभिनिवेशेनाऽऽगतोऽसीति न वक्तव्यमविमृश्यकारितया मयौद्धत्यस्य कृतत्वादिति भावः ॥ ४५ ॥

(४) ननु तव वैराग्येऽपि भीमसेनादीनां युद्धोत्सुकत्वाद्बन्धुवधो भविष्यत्येव त्वया पुनः किं विधेयमित्यत आह—

**यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।**
**धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥**

(५) प्राणादपि प्रकृष्टो धर्मः प्राणभृतामहिंसा, पापानिष्पत्तेः । तस्माज्जीवनापेक्षया मरणमेव मम क्षेमतरमत्यन्तं हितं भवेत् । प्रियतरमिति पाठेऽपि स एवार्थः । अप्रतीकारं स्वप्राणत्राणाय

( १ ) फिर तो प्रेतत्वकी निवृत्तिका कोई कारण न रहनेसे उनका निश्चय एकमात्र केवल नरकमें ही वास होता है—यह बात हम आचार्योंके मुखसे सुनते आये हैं—अपनी ही बुद्धिसे कल्पना करके नहीं कहते—इस प्रकार यह वाक्य पूर्वोक्त कथनकी ही पुष्टिके लिये है ॥ ४४ ॥

( २ ) जिसका अन्त बन्धुओंके नाशमें होनेवाला है उस युद्धका तो विचार करना भी सर्वथा महान् पापमय है, युद्ध करनेकी तो बात ही क्या है ? यह कहनेके लिये उसका विचार करनेके कारण अपने लिये खेद प्रकट करते हुए कहते हैं—

[ श्लोकार्थः—हाय ! बड़े दुःखकी बात है कि हमलोग राज्यसुखके लोभसे स्वजनों का संहार करनेको तैयार हो गये हैं । यह हमने बड़ा भारी पाप करनेका ही विचार किया है ॥ ४५ ॥ ]

( ३ ) तात्पर्य यह है कि विना विचारे करनेवाला होनेसे ही मैंने यह उद्दण्डता की है, इसलिये आप यह न कहें कि यदि तेरी ऐसी बुद्धि थी तो यहाँ युद्धके लिये तैयार होकर क्यों आया था ? ॥ ४५ ॥

( ४ ) यदि भगवान् शंका करें कि तुझे वैराग्य हो जाने पर भी भीमसेनादि को जो युद्ध की उत्सुकता है उसके कारण बन्धुओंका वध तो होगा ही उस स्थितिमें तू क्या करेगा ? तो अर्जुन कहता है—

[ श्लोकार्थः—यदि प्रतीकार न करनेवाले मुझ शस्त्रहीनको शस्त्रधारी धृतराष्ट्रपुत्र युद्धमें मार डालें तो मेरे लिये वह अपेक्षाकृत अच्छा ही होगा ॥ ४६ ॥ ]

( ५ ) प्राणियोंकी हिंसा न करनारूप धर्म तो प्राणोंसे भी बढ़कर है, क्योंकि ऐसा करनेसे कोई पाप नहीं होता । अतः जीवनकी अपेक्षा मेरे लिये मरण ही क्षेमतर = अधिक हितकर है । 'क्षेमतरम्' की जगह जिन प्रतियोंमें 'प्रियतरम्' पाठ है वहाँ भी यही